हिन्दीभाषानुवादसहितः

खण्डकाव्यम्

★

कविरत्नम्, विद्यावारिधिश्च

...सादशर्मा घिमिरे

...वतः (नेपाली)

श्रीरामविलापः

हिन्दीभाषानुवादसहितः

खण्डकाव्यम्

कविरत्नम्, विद्यावारिधिश्च

कृष्णप्रसादशर्मा घिमिरे

भागवतः (नेपाली)

प्रकाशकः : श्रीकृष्णग्रन्थमालाप्रकाशन
१७/३५ छनें. टङ्गाल-गहिरी धारा
काठमाण्डू नेपाल

काव्यलेखन समय : वि० सं० २०२९ शक सं० १८९४
ख्रि० सं० १९७३

संस्करणम् : प्रथमम्, सहस्रमात्रम्

प्रकाशन तिथिः : वि० सं० २०३६, शक सं० १९०१

तस्यैकस्य निर्धारित मूल्यम् १९०१, ख्रि० सं० १९८०

भारतीय मुद्रासु : अङ्केषु ५·०० अक्षरेषु पञ्च रुप्यकाणि

नेपालीय मुद्रासु : अङ्केषु ७·०० अक्षरेषु सप्त रुप्यकाणि

मार्गव्ययादिकं तदन्यत्

मुद्रकः : श्रीविश्वम्भरनाथ द्विवेदः

मुद्रणस्थानम् : सीके० ३६/२० ढुण्ढिराज, वाराणसी–१

किञ्चित्

•

पूज्या विद्वद्वराः ! प्रियाश्छात्रवर्गाश्च !

कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थतरस्य परब्रह्मणः परिदेवननिदर्शनात्मिकेयं व्याजस्तुतिर्व्याजेनाऽपि श्रीमद्भ्योऽपि रोचते चेदमुष्या लेखको जनोऽयमप्यात्मानं धन्यतमं सफलश्रमञ्च मन्यत एव, किमुत सुपठिता निगलितात्रत्यरसा लेखकेनेव, विलपता भगवता श्रीरामेणेव, श्रुतवता भ्रातृस्नेहपरिप्लुतहृदयेन लक्ष्मणेनेवेति दिक्।

विषयेऽस्मिन् मत्कृतहिन्द्यनुवादसंशोधनमुद्रापणादिषु तदन्यक्रियादिषु च यैर्यैरुपकृतोऽस्मितान् प्रत्यहञ्च स्वकृतज्ञतामेभिरक्षरैरक्षरैरेवं निदर्शयन् विरमामीति शम् ।

वि० सं० २०२९ श्रीपञ्चमी
गिरिजाजानेः पुरी

श्रीमतां श्रीचरणधूलिः
कविः

श्रीराम !

त्वदुदितमात्मसौख्यदायि
भक्त्यैव प्रकटितमेकधाऽनपायि ।
प्रेक्षस्व स्वगुणगणैश्च पूरयैनं
स्तोत्रं स्यादयमिति याचते
तवांशः ॥
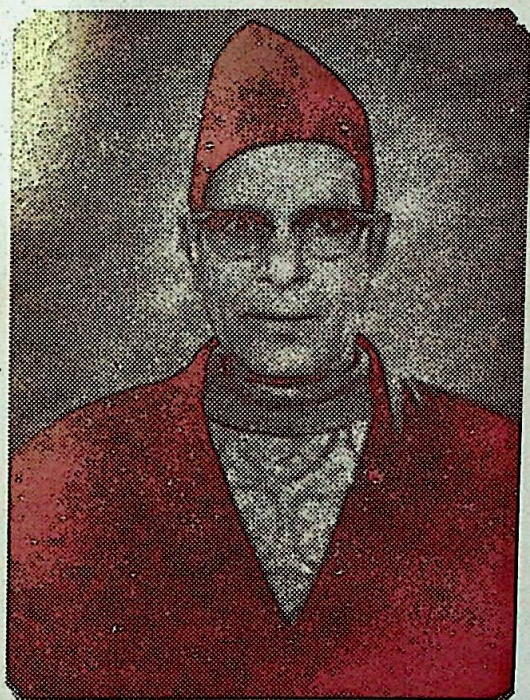
क्षणप्रसाद शर्मा घिमिरे

श्रीरामविलापः

हिन्दी भाषानुवादसहितः

(पुष्करिणीं पम्पां दर्शं दर्शं, देवीं सीतां
स्मारं स्मारं, भगवता कृतः)

खण्डकाव्यम्

•

पूर्वार्धः

तद्ब्रह्म सत्यममलं धृतरामरूपं
स्वानन्दमात्रमवतीर्य जगत्यमुष्मिन् ।
यद्यच्चकार सुजनश्रुतिरक्षणार्थं
तद्गर्भगं विलपितं जयतीह तस्य ॥१॥

उस सत् चित् आनन्द रूप अव्यय अद्वितीय ब्रह्म ने इस जगत् में श्रीराम रूप में अवतार लेकर सन्त महात्माओं तथा भगवती श्रुति के संरक्षणार्थ जो जो कार्य किये उनके मध्यपाती उनका यह सीता विरह विषयक विलाप सर्वोत्कृष्ट है। मैं उनके प्रति प्रणत हूँ ॥१॥

भूत्वाऽत्र दाशरथिरात्महितैश्चतुर्भिः
स्वैर्भ्रातृभिः समुदूह्य तथात्मदाराः ।

आज्ञां पितुः समधिगम्य विसृज्य राज्यं
पत्न्याऽनुजेन सह यो वनमाविवेश ॥२॥

अपने परम हितैषी अपने चार भाइयों के साथ महाराज दशरथ के पुत्र रूप में उत्पन्न होकर, अपनी धर्मपत्नी का पाणि-ग्रहण कर एवं पिताजी की आज्ञा से उपस्थित राज्य का परित्याग कर जिन्होंने (राम ने) पत्नी श्रीसीता तथा अनुज लक्ष्मण के साथ वन में प्रवेश किया ॥२॥

तत्रैत्य संस्थितवतोऽस्य मुनिप्रियस्य
दुष्टा बभूवुरपरे विहिताभिचाराः ।
ते ते चतुर्दशसहस्रमिताः क्षणेन
रक्षोगणा यमपुरीं गमिता अनेन ॥३॥

वन में जाकर वहाँ निवास कर रहे मुनिजनों के परम प्रिय श्रीराम के वे बहुत से दुष्ट, जिन्होंने मुनिजनों पर अनेक अत्याचार किये थे, शत्रु हो गये। उन-उन दुष्टों तथा चौदह हजार राक्षसों को श्रीरामचन्द्र जी ने अल्प काल में यमपुरी भेज दिया ॥३॥

तत्कृत्यजातमवलोक्य विकृत्तनासा
सा राक्षसी भयगलद्हृदयाऽग्रजं स्वम् ।
लङ्केश्वरं तदमुनाऽत्र कृतं समस्तं
वृत्तं तथाऽगददसौ कुपितो यथा स्यात् ॥४॥

श्रीराम का शौर्यपूर्ण अद्भुत कृत्य (रणकौशल) देखकर छिन्न-नासिका उस राक्षसी (सूर्पणखा) ने भय से कम्पितहृदय होकर अपने बड़े भाई लङ्केश्वर (रावण) से श्रीराम द्वारा किये गये

सम्पूर्ण (राक्षस हनन रूप) कार्य का वृत्तान्त ऐसे ढंग से कहा जैसे कि वह श्रीराम के प्रति क्रुद्ध हो जाय ।।४।।

श्रुत्वा वचः स्वभगिनीमुखनिःसृतं त-
ल्लङ्केश्वरोऽपि बहुधात्ममदेन दृप्तः ।
गूढं विमृश्य हृदि राममहाग्निमेनं
शान्तं चिकीर्षुरपतत् तृणवत्तदस्मिन् ।।५।।

अपनी बहिन-उक्त वह वचन सुनकर आत्माभिमान से अत्यन्त उन्मत्त हुआ लङ्केश्वर रावण भी गुपचुप अपने मन में विचार कर राम रूप धधकती हुई ज्वाला-माला वलित महाग्नि को शान्त करने की इच्छा करता हुआ उसमें सूखे तिनके तुल्य स्वयं गिर गया ।।५।।

मारीचमेत्य दृढमात्मभयं निदर्श्य
मार्गं स्वरूपमवधारयितुं नियुज्य ।
भ्रात्रा समं रघुमणिं त्वपसार्य दूरं
भार्यां जहार मिषतोऽस्य तदाश्रमात् सः ।।६।।

उसने मारीच के निकट जाकर और उसे अपना जबर्दस्त भय दिखाकर विचित्र मृग का रूप धारण करने की आज्ञा प्रदान की एवं भ्राता लक्ष्मण के साथ श्रीराम को आवास उटज (पर्णकुटी) से दूर हटाकर उसने धोखे से उनकी भार्या सती श्रीसीता का अपहरण किया ।।६।।

उत्सन्नमृत्युखगराजमुखेन रामो
विज्ञाय वृत्तमिदमस्य निशाचरस्य ।

संस्कृत्य तं मृतमथाऽऽत्मपितुः सुमित्रं
सीतां विमार्ग्य विचचार वनं समन्तात् ॥७॥

आसन्न मृत्यु पक्षिराज जटायु के मुँह से उस निशाचर की करतूत जानकर मृत तथा अपने पिता के सुहृत् उसका (जटायु का) दाह संस्कार कर श्रीराम सीता का इधर उधर अन्वेषण करते हुए वन में चारों ओर घूमे ॥७॥

पम्पाभिधानममलं सर एत्य पश्चाद्
भ्रात्रा समं बहु विलप्य वियोगतोऽस्याः ।
तद्धृष्य मूकगिरिसानुनि दत्तदृष्टिः
सीतामयं जगदपश्यदिमां स्मरन् सः ॥८॥

घूमते घूमते बाद में पम्पा नामक निर्मल सरोवर पर पहुँचे । वहाँ भाई के साथ पत्नी के वियोगवश बहुत विलापकर पत्नी (सीता) का स्मरण करते हुए उन्हें सारा संसार सीतामय दिखाई दिया । एकाएक उनकी दृष्टि ऋष्यमूक पर्वत के शिखर पर पड़ी ॥८॥

दृष्ट्वा तथाविधममुं रघुवंशरत्नं
स्वं भ्रातरं मुनिमिवाऽव्यययोगसंस्थम् ।
भ्राताऽस्य दुःखगलितो भृशमाकुलोऽपि
गत्वा समीपमिदमाह स लक्ष्मणोऽपि ॥९॥

भ्रातस्त्वमत्र गुणपूज्य उरुप्रभावो
यद्गीयसे मुनिजनैः सुजनैश्च सर्वैः ।

तन्मोहमेतमतदर्हमनर्थकारं

त्यक्त्वा मनो रघुमणे ! कुरु शान्तिसारम् ॥१०॥

अपने भ्राता रघुकुलमणि श्रीराम की अक्षय (कभी न टूटनेवाली) समाधि में स्थित मुनिराज की सी हालत देखकर उनके भ्राता लक्ष्मण ने, यद्यपि वे भी क्लेश से निपीडित एवं व्याकुल थे तथापि श्रीरामचन्द्रजी के अत्यन्त निकट जाकर, यह कहा—

भाईजी इस संसार में सब मुनिजन एवं सज्जन पुरुष आपकी महनीय विविध गुणों से पूज्य एवं महानुभावरूप से प्रशंसा करते हैं। हे रघुकुल रत्न ! इसलिए इस मोह का, जो आपके अयोग्य एवं अनर्थकारी है, त्यागकर आप मन को सुस्थिर और शान्त कीजिए ॥९.१०॥

पित्रा गते वयसि देववरैः प्रयत्नात्

पीयूषभाण्डमिव चन्द्रमिवाऽब्धिनाऽत्र । द्वितीया कलमात्

प्राप्तोऽसि यत्त्वमथ तत्सकलं विमृश्य

व्यामोहमाप्तुमिह नार्हसि चैवमद्य ॥११॥

पिताजी ने बुढ़ापे में, जैसे इन्द्रादि देवताओं ने प्रयत्न से अमृत कलश प्राप्त किया एवं जैसे समुद्र ने चन्द्रमा को प्राप्त किया वैसे ही, बड़े प्रयत्नों से आपको प्राप्त किया। यह सब विचार कर यहाँ पर आप इस प्रकार का व्यामोह प्राप्त करने के पात्र नहीं हैं ॥११॥

देवीं स्वभावविजिताखिलसद्गुणां तां

सीतां विचित्य परितो भुवमात्मनीनाम् ।

लब्ध्वा स्ववीर्यबलतोऽहितकृत्यलग्नान्
दुष्टान् विनाश्य च वयं सुखिनो भवेम ॥१२॥

उस अपनी आत्मीय देवी सीता को, जिसने स्वभावतः सब सद्गुणों पर विजय प्राप्त कर रखी है अर्थात् जो सकल सद्गुणों से पूर्णतया सम्पन्न हैं, पृथ्वी के चारों ओर अन्वेषण पूर्वक प्राप्त कर अपने बल एवं पराक्रम से अपने अहित कार्यों में संलग्न दुष्टों का विनाशकर हम सुखी होंगे ॥१२॥

इत्थं प्रियेण बलवीर्यवताऽनुजेन
संबोधितो नृमणिरेष गृहीतधैर्यः ।
पम्पाश्रियं समवलोक्य गलद्गिरैवं
वक्तुं समारभत गुप्तमनोजचेष्टः ॥१३॥

इस प्रकार बल और पराक्रमशाली अपने प्रिय अनुज के सान्त्वना देने पर नररत्न श्रीरामचन्द्रजी को कुछ धैर्य हुआ । उन्होंने पम्पा की शोभा देखकर काम व्यथा को छिपाते हुए लड़खड़ाती हुई वाणी से इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥१३॥

पम्पा विराजतितरां प्रियभूषिताङ्गी
लावण्ययौवनवती वनितेव काचित् ।
तत्पश्य लक्ष्मण ! सुमान्यभितोऽभिवृष्य
वृक्षा इमां परहितामिति नन्दयन्ति ॥१४॥

लक्ष्मण, देखो प्रियतम द्वारा विभूषित अङ्ग प्रत्यङ्गवाली लावण्य (सौन्दर्य) और यौवन सम्पन्न किसी नायिका की तरह यह पम्पा अत्यन्त सुशोभित हो रही है। बहुत से वृक्ष यह पर-

हितकारिणी (परोपकारिणी) है, यह समझकर इसके चारों ओर फूलोंकी वृष्टिकर इसका अभिनन्दन करते हैं ॥१४॥

संशोभते पुनरियं स्वधृतैः सुधावतै-
वैंदूर्यकान्तिसदृशैर्विमलैर्जलैश्च ।
प्रेम्णाऽऽत्मनस्तटतलान्यभितः श्रितैस्तै-
र्नानाविधैर्विटपिभिश्च धृतानुरागा ॥१५॥

यह पम्पा वैदूर्य मणि (नीलम) की कान्ति के तुल्य निर्मल अमृतसने अपने जल से और अत्यधिक शोभा पा रही है। प्रेम से अपने (इसके) तटों के इर्द-गिर्द कतार बाँधकर खड़े विविध प्रकार के वृक्षों का, मालूम पड़ता है, इस पर अपार अनुराग है ॥१५॥

आत्मोद्भवानि रुचिराणि मनोहराणि
नानाविधानि बहुरूपधराणि तानि ।
अम्भोरुहाणि विकचानि विधृत्य सैषा
स्वामूलचूडमभिभूष्य सुशोभतेऽद्य ॥१६॥

लोगों की दृष्टि बलात् अपनी ओर आकृष्ट करनेवाला मनोमोहक भाँति-भाँति के रंग-विरंगे खिले हुए सुन्दर कमलों को, जो अपने ही कलेवर में उत्पन्न है, धारण कर यह पम्पा अपने को आमूल चूल विभूषित कर आज बड़ी सुन्दर लग रही है ॥१६॥

तत्पश्य लक्ष्मण ! सुशीतजलामकम्पां
पम्पामिमां कृतजगज्जनतानुकम्पाम् ।
शम्पां यथा जलधराङ्कगतामवश्यां
वश्यां कृतामिव वनैः सुजनैरुपास्याम् ॥१७॥

लक्ष्मण, खूब शीतल जलवाली निश्चल इस पम्पा को, जिसने सारे संसार की जनता पर शीतल मधुर जल दान द्वारा अनुकम्पा कर रखी है, देखो; मेघघटा के मध्य कौंधती हुई बिजली की तरह अवश्य (अस्थिर) इसे मानो वनों ने घेर कर स्थिर कर दिया है और यह सुजनों की स्नान, पान आदि द्वारा उपास्य है ॥१७॥

मामाधयः प्रथमतोऽत्र निपीडयन्ति
भुक्तं प्रियेण भरतेन विमृश्य कष्टम् ।
तत्राऽप्युपस्थितमसह्यमिदं मयैवं
यद्भुज्यते जनकजाहरणात् समुत्थम् ॥१८॥

प्रिय भरत को कष्ट भोगना पड़ा यह सोचकर मुझे पहले से मानसिक व्यथाएँ सता रही थीं, उस पर जनकनन्दिनी के अपहरण से उत्पन्न सामने खड़ा यह असह्य कष्ट इस प्रकार मुझे भोगना पड़ रहा है ॥१८॥

अस्यां स्थितावपि मनोहररूपसम्पद्-
विद्योतिता विकचवारिरुहैः समृद्धा ।
साऽऽह्लादयत्यसमकाननगोचरैर्मां
शैलैर्द्रुमैः सशिखरैरिव पुष्पिताग्रैः ॥१९॥

इस अवस्था में भी मनोरम रूप सम्पत्ति (सौन्दर्यातिशय) से चमचमाती हुई एवं खिले हुए कमलों से लहलहाती हुई पम्पा असाधारण (अनुपम) वन प्रदेशों से तथा ऊँचे शिखरवाले पर्वतों के तुल्य खिले हुए फूलों से भरी चोटीवाले ऊँचे ऊँचे वृक्षों से मुझे आह्लादित करती है ॥१९॥

शोकार्त इत्थमहमस्मि तथापि मेऽपि
सा रोचते भृशमिहाऽतुलविग्रहेव ।
वृक्षैरिभैरिव सुमैः सुजनैश्च रागात्
संपूज्यमानपदपद्मयुगा रमेव ॥२०॥

यद्यपि मैं इस प्रकार शोकनिपीडित हूँ तथापि यहाँ पर यह अनुपम कलेवरवाली पम्पा हाथियों के तुल्य विशालकाय वृक्षों द्वारा पुष्पों से एवं मानवों द्वारा प्रेम से जिसके दोनों चरण-कमल पूजे जा रहे हों ऐसी महालक्ष्मी की तरह अत्यन्त रुच रही है ॥२०॥

या दृश्यते च कुसुमैः पतितैः समन्ता-
च्छन्नाऽपि सुन्दरतरा कमनीयरूपा ।
क्षौमोत्तरीयवसनाञ्चलशोभितास्या
काचित् कुलीनयुवतीव सभासु संस्था ॥२१॥

चारों ओर वृक्षों से घिरे हुए फूलों से आच्छादित होने पर भी अत्यन्त सुन्दर स्पृहणीय स्वरूपवाली जो (पम्पा) रेशमी ओढ़नी के आँचल से जिसका मुँह सुशोभित है सभा में बैठी किसी कुलीन युवती के तुल्य दिखायी देती है ॥२१॥

किं शाद्वलं यदभितः स्थितमात्मगम्यं
रम्यं प्रदर्श्य बहुवर्णमयं स्वरूपम् ।
आकृष्य दर्शकगणान् पतितैः स्ववृन्तात्
पुष्पैः प्रलोभ्य बहुधाऽऽत्मधृतान् करोति ॥२२॥

जिसके (पम्पा सरोवर के) चारों ओर का हरी हरी घास

से भरा मैदान जिसकी शोभा देखते ही बनती है, अपना रंग-विरंगा रूप दिखाकर दर्शकों को अपनी ओर खींचकर वृक्षों के वृन्तों से गिरे हुए विविध प्रकार के पुष्पों से उनके नेत्रों को ललचाकर आत्मसात् कर लेता है ।।२२।।

वृक्षा इमे कुसुमभारनतास्तनूभिः
श्लिष्टा लताभिरिह लक्ष्मण ! तादृशीभिः ।
दृश्यन्त उज्ज्वलतरावयवाः प्रकामं
कामं निषेव्य सह ताभिरुदीर्णरागाः ।।२३।।

लक्ष्मण, पुष्पराशि से लदे होने से झुके हुए वैसी ही अर्थात् पुष्पराशि से लदी होने के कारण झुकी हुई लताओं के साथ शरीरों से चिपटे ये वृक्ष अनुराग (प्रेम) से ओत-प्रोत होकर उन लताओं के साथ खूब छककर काम का सेवन कर अत्यन्त उज्ज्वल अङ्गवाले दिख रहे हैं ।।२३।।

प्राप्तो वसन्तसमयोऽयमवार्यवीर्यो
मथ्नाति मन्मथमनोऽप्यहितं यथेह ।
यज्जन्यधन्यफलपुष्पसुगन्धिताङ्गो
वायुश्च वात्यभिवनं प्रविकीर्य गन्धान् ।।२४।।

लक्ष्मण, महाबली यह वसन्तकाल आ गया है । यह यहाँ शत्रु की भाँति मेरे मन को मथ रहा है । वासन्तिक सुन्दर फल और फूलों से सुगन्धित वायु भी वन के चारों ओर विविध गन्धों के विखेरता बह रहा है ।।२४।।

पश्येह लक्ष्मण ! वनानि सुपुष्पितानि
नानाविधैः फलचयैश्च विराजितानि ।

वर्षासु येषु जलदा इव वारिधाराः
संवृष्य पुष्पनिवहाँस्तरवो रमन्ते ॥२५॥

हे लक्ष्मण। खूब फले हुए एवं भाँति-भाँति के फलों से सुशोभित वनों को देखा, जिनमें ये वृक्ष वर्षा ऋतु में जैसे मेघ जल-धारा बरसाते हैं वैसे ही फूलों की वृष्टि करते हुए बड़े मनोरम लग रहे हैं ॥२५॥

श्रान्ताने तङ्

संक्रीडते पुनरसौ पवनोऽपि पुष्पैः
साधं पतद्भिरभितो वनमात्मनीनैः ।
संपातितैरधिधरं पतदङ्गवेगैः
स्वेष्टैः सुगन्धिभिरपीह सुकोमलाङ्गैः ॥२६॥

यहाँ यह पवन भी सुगन्धित प्रदान द्वारा अपने हितू (अपना हित करनेवाले) वन के चारों ओर वृक्षों से गिर रहे पुष्पों के साथ खेल रहा है। उन पुष्पों में से कुछ तो पवन द्वारा पृथ्वी पर गिरा दिये गये एवं कुछ गिर रहे हैं। वे सब के सब उत्तम सुगन्ध एवं सुकोमल अङ्गों से वायु के परम प्रिय हैं ॥२६॥

शाखाः शुभा विटपिनां कुसुमोत्कराणां
सम्यक् प्रकम्प्य चलितोऽनिल एष पश्य ! ।
संसेव्यतेऽलिनिवहैर्मकरन्दलुब्धै-
गुंजद्भिरस्य सुगुणानिव गीयते च ॥२७॥

मकरन्दः पुष्परसो भवति न तु पुष्परजः।

पुष्पराशि से लदे हुए वृक्षों की सुन्दर शाखाओं को खूब हिलाकर यह पवन चला, देखो पुष्प-पराग के लोभी भ्रमरों का झुण्ड इसका अनुगमन कर रहा है एवं अपने गुञ्जार से इसके

सुन्दर गुणों का वखान करता हुआ-सा इसका गान कर रहा है ॥२७॥

तामृष्यमूकगिरिवर्यगुहां प्रविश्य
संस्पर्शमुच्चमनुभूय शिलासु तस्याम् ।
निष्क्रान्त एष तत् आत्मसुखं तदद्भि-
स्तैः कोकिलैरपि सुगीत इवाऽस्ति धन्यः ॥२८॥

श्रेष्ठ ऋष्यमूक पर्वत सुन्दर गुफा में प्रवेश कर उसकी चट्टानों में जोर से टकराकर वहाँ से बाहर निकला हुआ यह पवन अपने आनन्द का अव्यक्त मधुर ध्वनि से गान कर रहे कोकिलों द्वारा सुगीत (खूब प्रशंसित) हुआ-सा धन्य है ॥२८॥

तेनैव लक्ष्मण ! विवर्ध्य जवं स्वमुच्चै-
विक्रीडता विहरता च वने समन्तात् ।
दृश्यन्त एत उरुशक्तिभृतोऽपि वृक्षाः
शाखावसक्तवपुषो ग्रथिता इवाऽत्र ॥२९॥

लक्ष्मण, ऋष्यमूक पर्वत की चट्टानों में टकराने से ही अपने वेग को खूब बढ़ाकर वन में चारों ओर खेल रहे और विचर रहे वायु द्वारा बहुत मोटे, ऊँचे और मजबूत भी ये वृक्ष परस्पर की शाखाओं के सम्मिलित होने से आपस में गुँथे हुए से प्रतीत होते हैं ॥२९॥

सौम्येषु तेषु मधुगन्धिषु काननेषु
कूजद्भिरेभिरनिलानुपथं व्रजद्भिः ।

आकण्ठपीतमधुभिर्भ्रमरैः परीता-
स्ते पादपा अपि च यत्र सुखं नदन्ति ॥३०॥

प्रशान्त एवं पुष्परस (मकरन्द) की सुगन्ध से सराबोर इन काननों में जहाँ मनोरम गुञ्जार कर रहे जिस ओर वायु वह रहा है, उसी ओर जा रहे खूब छक कर मधुपान कर चुके, इन भ्रमरों द्वारा चारों ओर से परिवृत्त ये वृक्ष भी मानो अव्यक्त ध्वनि से बखान कर रहे हैं ॥३०॥

उत्फुल्लचारुकुसुमैरभिशोभमानान्
स्वस्थैः प्रियालिनिवहैश्च तथाविगीतान् ।
प्रह्वान् द्रुमाञ्छिखरिणोऽपि कृतज्ञतां स्वां
संदर्शयन्त इव पश्य ! परिष्वजन्ति ॥३१॥

वत्स लक्ष्मण, देखो खिले हुए मनोहर पुष्पों से चौगिर्द अत्यन्त शोभायमान, अपने ऊपर मँडरा रहे भ्रमर समूह द्वारा खूब प्रशंसित एवं फल-फूलों के भार से आलिङ्गन करते हैं ॥३१॥

सौन्दर्यमेतदतिरम्यमहो ! प्रफुल्ला-
स्ते कर्णिकारविटपा ज्वलनोज्ज्वलाङ्गाः ।
राजन्ति पीतवसनाश्रितहेमभूषा-
विभ्राजिता इव नराः ससुवर्णवर्णाः ॥३२॥

अहा ! यह कितना मनोह्लादी दृश्य है ! वे फूले हुए आग के समान चमकीले अङ्ग-प्रत्यङ्गवाले कनियार (अमलतास) के वृक्ष पीले वस्त्र पहने और सुवर्णाभरणों से देदीप्यमान गौरवर्ण मनुष्यों के समान सुशोभित हैं ॥३२॥

नानाविधैः खगकुलैर्मधुरं विगीतः
कालो वसन्त उरुशक्तिबलात् प्रदीप्तः ।
दृष्ट्वैव मां जनकजाविरहेण दीनं
सन्तापयत्यसकृदेव मनात्मनीनम् ॥३३॥

रंग-विरंग के नानाविध पक्षियों के मधुर कलरव (चह-चहाने) से मुखरित यह वसन्त-काल उरुशक्ति (विपुल शक्ति भगवान्) को सामर्थ्य से खूब प्रदीप्त होकर जनकनन्दिनी के विरह दुःख से दुःखी मुझे देखकर ही बार-बार पीड़ित कर रहा है। इस प्रकार यह अनात्मनीन हो गया है (हमारा हितू नहीं रह गया है) ॥३३॥

मैत्रीं दृढामधिगतोऽस्य सुहृत् स कामो
वामो बभूव मयि भूय उपात्तचापः ।
सन्तापयञ्जनकजाञ्च हृतां परोक्षे
प्रत्यक्ष एष पुनरत्र च मां दुनोति ॥३४॥

इसका (वसन्त-काल का) वह कामदेव, जिसकी इसके साथ गाढ़ी मैत्री है, मेरे ऊपर कुपित हो गया है और उसने (धनुष हाथ में उठा लिया है। यह परोक्ष में अपहृत जनकनन्दिनी को संतापित करता होगा और प्रत्यक्ष में यहाँ मुझे पीड़ित करता है ॥३४॥

एतादृशं सततहीनदशं प्रियाया
अप्राप्तसन्निधिममुं जनमत्र दृष्ट्वा ।
पुंस्कोकिलोऽयमपि मामुपहस्य पश्य !
व्यामोहयन्निव विकूजति सोच्चनादम् ॥३५॥

प्रिया की सन्निधि से बिछुड़े हुए निरन्तर दीनहीन दशावाले इस प्रकार यानी विरही इस जन को (मुझे) देखकर यह कोयल (नर) भी यहाँ मेरा उपहासकर मुझे व्याकुल करता हुआ-सा जोर से (उच्च ध्वनि से) कुहुकता है ॥३५॥

दात्यूहकः पुनरसौ वननिर्झरेऽस्मि-
स्तिष्ठन् सुरम्यतट आत्मनि सानुरागः ।
पश्यन् प्रियां स्वरमणीं रमणीविहीनं
मामत्र हन्त ? कुदृशाऽऽक्षिपतीव वत्स ! ॥३६॥

वत्स लक्ष्मण, यह जलकौआ सुन्दर तटवाले इस वन झरने पर बैठा हुआ अपने में सानुराग अपनी प्रिय रमणी (स्त्री) को देखता हुआ, खेद है, अपनी कुत्सित दृष्टि से पत्नी से वियुक्त मेरी मानो यहाँ निन्दा कर रहा है ॥३६॥

दृश्यन्त इत्थमिह पक्षिगणाः समन्तात्
संभूय सुन्दरतरां गिरमुद्गिरन्तः ।
गायन्त एभिरसमस्वरमात्मकामा
वामा इमेऽलिन इतोऽभिगताः स्वरामाः ॥३७॥

इस वन में भाँति-भाँति के पक्षी चारों ओर इस प्रकार इकट्ठे होकर मनोमोहक सुन्दर कलरव करते हुए दिखायी देते हैं। इनके साथ असमान स्वर का या पञ्चम स्वर का गान करते हुए ये अभिमानी अपने आप में मतवाले वैरी भौंरे इधर आ गये हैं ॥३७॥

अस्यास्तटानि परितो मुदिताः प्रकामं
क्रीडन्ति पक्षिनिवहाः स्वमनोऽभिरामम् ।

कोलाहलो य उद्भूदिह तद्भवेन
सन्नादितं सकलमेव वनं स्वनेन ॥३८॥

इस पम्पा के तटों के चौगिर्द अत्यन्त प्रसन्न हुए ये नाना पक्षी अपनी रुचि के अनुकूल सुन्दर अठखेलियाँ कर रहे हैं। यहाँ पर पक्षियों के चहचहाने का जो कोलाहल हुआ है उसकी ध्वनि से यह सारा का सारा वन मुखरित हो गया है ॥३८॥

पम्पा प्रिया हि बहुधा रुचिरा ममाऽपि
सौमित्र! आत्मगतवस्तुभिरेभिरिद्धा।
मुग्धोऽस्मि किन्तु रुचिरावयवैः समृद्धां
पश्यन्निमामुदितकामकलोऽभवं हा ! ॥३९॥

वत्स, यह मनोरम पम्पा मुझे भी बहुत प्रिय है, इसमें सन्देह नहीं। यह निर्मल जल, खिले हुए कमल, चारों ओर कतार बाँध कर खड़े पुष्प, फल और पल्लवों के भार से नत वृक्ष, चारों ओर उगी हुई हरित मणि सदृश घास आदि अपनी मनोहर वस्तुओं से समृद्ध है। मञ्जुलतम अवयवों से समृद्ध इसे देखता हुआ मैं इस पर मुग्ध हूँ। पर क्या करूँ खेद है इसे देखने से मेरा सीताविषयक विप्रलम्भ उमड़ गया है ॥३९॥

शोकप्रदो भवति मह्यमशोकवृक्षो
यद् दृश्यते प्रिय ! पुरःस्तवकैरुपेतः।
तान् स्वस्थषट्पदवचोग्निसमिद्धगात्रान्
साङ्गारकानिव निदर्श्य दहत्यसौ माम् ॥४०॥

प्रिय, पल्लवों के गुच्छों से सुशोभित अशोक वृक्ष, जो सामने दिखायी देता है, मेरे लिए शोकप्रद हो रहा है। अपने ऊपर

मँडरा रहे भ्रमरों के गुञ्जार रूपी अग्नि से प्रदीप्त अवयववाले उन पल्लवों को अङ्गारों की तरह दिखाकर यह मुझे जला रहा है, संतप्त कर रहा है ॥४०॥

शाखाः शुभा विटपिनां परितोज्ज्वलद्भि–
रिद्धैः सुमैः किसलयैरपि शोणिताभैः ।
सोऽसौ वसन्तहुतभुक् प्रियया विहीनं
मां भस्मसादिव करोति विलोक्य दीनम् ॥४१॥

यह वसन्तरूपी अग्नि वृक्षों की सुन्दर शाखाओं के चौगिर्द जल रहे चमकीले शोणिताभ (रक्ततुल्य) लाल-लाल फूलों और पल्लवों से प्रिया विरहित मुझे दीन-हीन देखकर भस्म-सा कर रहा है ॥४१॥

अस्यां स्थितौ विकचपद्मसमाननेत्रां
बिल्वस्तनीं जनकराजसुतामदृष्ट्वा ।
सत्याश्रयं सदपि वत्स ! परार्थसारं
मज्जीवनं भवति नीरसमेकवारम् ॥४२॥

वत्स, ऐसी परिस्थिति में प्रफुल्ल कमल-दल सदृश विशालाक्षी एवं बिल्वफल तुल्य उरोजों से युक्त जनकराजनन्दिनी को देखे बिना मेरा जीवन, यद्यपि यह सत्य का परिपोषक तथा परोपकार परायण है, एकबारगी नीरस (शुष्क) हो गया है ॥४२॥

सोऽयं वसन्तसमयो जनकात्मजाया
नित्यं प्रियो विकचपादपवल्लिवृन्दः ।
उद्गीत आत्मविभवैः सह कोकिलैस्तै–
रन्यैश्च पक्षिनिवहैरपि सेवितोऽद्धा ॥४३॥

अपने माधुर्य तथा रूपवैचित्र्यरूप वैभव को गानेवाले कोकिलों के साथ अन्यान्य नाना पक्षियों से सेवित यह वसन्त समय, जिसमें सभी वृक्ष और लताएँ विकसित रहती हैं, जनकनन्दिनी को सचमुच वहुत प्रिय था ॥४३॥

यस्मिन् समीक्ष्य बहुधाऽऽत्मगणैः समेतान्
वन्यानिमान् पशुगणान् प्रियपक्षिणोऽपि ।
स्वाभिः प्रियाभिरितरेतरबद्धभावान्
सीदत्यहो ! मम मनोऽपि वियोगिनोऽपि ॥४४॥

प्रियवर, जिस वसन्त समय में अपने-अपने वर्ग के झुण्डों के साथ इकट्ठे हुए इन वनैले पशुओं तथा पक्षियों को, जो अपनी-अपनी प्रियाओं के साथ परस्पर प्रेमबन्धन से युक्त है, देखकर मुझ वियोगी का मन भी कुम्हल जाता है ॥४४॥

रम्यो वसन्तगुणगुम्फित एष कालो
दृष्ट्वैतान् प्रिय जनान् प्रियया विहीनान् ।
कामाग्निना हृदयजेन विभूतिशेषान्
कुर्वन् सुखेन नयतीव यमस्य लोकान् ॥४५॥

वसन्त ऋतु के सकल गुणों से परिपूर्ण यह रमणीय समय प्रिया विहीन जनों को देखते ही हृदय से उत्पन्न कामाग्नि से उन्हें भस्मावशिष्ट करता हुआ सुख से मानो यमलोक में पहुँचा देता है ॥४५॥

उद्दिश्य तामवनिजां मम चित्तजन्मा
मामैव हन्त ! परलोकगतं चिकीर्षुः ।

सन्तापयत्यनिशमत्र विबृद्धतर्षं
दृष्ट्वैव दुष्टनिवहेन विनष्टहर्षम् ॥४६॥

मनोहारिणी भूमिजा सीता को निमित्त बनाकर मेरा काम हाय! वृद्धिमत अभिलाषवाले मुझको ही दुष्टों द्वारा विनष्ट आनन्दवाला देखकर परलोक का अतिथि बनाने की इच्छा करता हुआ यहाँ निरन्तर अत्यन्त सन्तप्त कर रहा है ॥४६॥

तत्पश्य लक्ष्मण ! मयूरगणा अमी स्वौ
पक्षौ प्रसार्य बहुवर्णविचित्रितांशौ ।
नृत्यन्त उद्गतमनोजविकारवेगाः
स्वाः स्वाः प्रियाः समनुसृत्य मुदा रमन्ते ॥४॥

वत्स लक्ष्मण, देखो, ये मयूरवृन्द रंगबिरंगे होने के कारण चित्र-विचित्र अपने-अपने परों को फैलाकर नाच रहे हैं। काम विकार का वेग उदित होनेपर अपनी-अपनी प्रेयसियों के सन्नि-कटवर्ती सानन्द कामपिपासा शान्त करते हैं ॥४७॥

नृत्यन्तमात्मगतभावममुं मयूरं
दृष्ट्वा प्रियाऽस्य शिखिनी च विबृद्धकामा ।
रन्तुं प्रियेण सह साऽऽरभताऽत्र गत्वा
मत्वा प्रियञ्च तदवस्थमुदारचेष्टम् ॥४८॥

नाच रहे इस मयूर को अपने में अनुरक्त देखकर वृद्धिगत कामवाली इसकी प्रिया मयूरी अनुकूल चेष्टा (अङ्ग चालन आदि क्रिया कलाप) वाले अपने प्रिय को भी वैसी ही स्थिति जानकर उसके निकट जाकर प्रिय के साथ कामक्रीडा निरत हुई है ॥४८॥

धन्यो भुजङ्गभुगयं शिखिनीद्वितीयो
यो नृत्यतीह ललितं प्रियया सहैवम् ।
यस्य प्रियाऽपि न हृता खलराक्षसेन
यद्बान्धवाश्च सततं सुखिनोऽपि सन्ति ॥४९॥

मयूरी जिसकी सहचरी है ऐसा यह भुजङ्गभुक् (मयूर) धन्य है जो यहाँ अपनी प्रिया के साथ इस प्रकार आनन्द लेने में विभोर होकर सुन्दर नाच कर रहा है। इसको प्रिया का अपहरण भी किसी दुष्ट राक्षस ने नहीं किया है और इसके बन्धुबान्धव निरन्तर सुखी हैं ॥४९॥

सोऽहन्तु लक्ष्मण ! वनेऽपि हतार्थ एवं
क्लिश्यामि तद्गतधिया हृदि दूयमानः ।
इत्थं प्रफुल्लकुसुमे विपिने निवासो
देव्याविनाऽभवदहोऽन्तकरोऽमसाऽपि ॥५०॥

जो उपस्थित राज्य त्याग कर आया एवं वन-वन में भटक रहा, वह मैं वन में भी इस प्रकार हतभाग्य हूँ, जनकनन्दिनी में चित्त लगा रहने से हृदय पीड़ा का अनुभव करता हुआ मैं क्लेश पा रहा हूँ। इस प्रकार खूब विकसित (खिले हुए) फूलों से परिपूर्ण वन में देवी के बिना निवास, खेद है, मेरा भी प्राणान्तकारी हुआ ॥५०॥

कामो वसन्तसुहृदेष धनुर्विगृह्णन्
सर्वान् करोति वशगान् पशुपक्षिणोऽपि ।
एतेष्वपीह सुतरां परिवर्धमान-
स्तांस्तांश्च कारयति कामकला विलासान् ॥५१॥

वसन्त का अभिन्न हृदय मित्र यह कामदेव अपना लोक विजयी धनुष उठाकर पशु पक्षियों तक सभी को अपने वशीभूत करता है। उनमें भी अत्यन्त अभिवृद्धिको प्राप्त हुआ। यह काम यहाँ (इस वन में) उनसे उन-उन अनेक कामकला विलासों को कराता है ॥५१॥

सीता प्रियाऽपि मम दुष्टनिशाचरेण
न स्याद्धृता यदि भवेच्च मयैव साकम् ।
साऽस्मिन् वसन्तसमये मदनेषुविद्धा
नेत्रे निमील्य निकषा लघु मामुपैष्यत् ॥५२॥

मेरी प्राणप्रिया सीता यदि राक्षस द्वारा अपहृत न हुई होती तो मेरे ही साथ होती। वह इस वसन्तकाल में कामबाणों से विद्ध होकर आँखें बन्द कर शीघ्र ही मेरे निकट आ जाती ॥५२॥

स्वच्छश्रियां विटपिनां परितो वनानि
फुल्लानि सुन्दरतराण्यपि सारवन्ति ।
पुष्पाणि मत्कृत इमानि विनिष्फलानि
जातानि हन्त ! भरताग्रज ! तां विनेह ॥५३॥

हे भरतानुज[1] प्रिय लक्ष्मण, वनोंके चौगिर्द स्पष्ट विशद शोभावाले पेड़ों के खूब खिले हुए अत्यन्त मनोमोहक और सुगन्ध से भरे हुए ये विविध फूल, दुःख है, जनकनन्दिनी के बिना मेरे लिए अत्यन्त निष्फल हो गये हैं ॥५३॥

---

१. भरत है अग्रज जिसका (भरताग्रज अर्थात् भरतानुज)

रम्येऽत्र माधवमये समये स्वसङ्घैः

इति गङ्गुनृतम्। सङ्गत्य साकमितरेतरबद्धकामम् ।

रत्याश्रितं शकुनयोर्युगलं ममाऽग्रे

मामेव वत्स ! परिपीडयति प्रकामम् ॥५४॥

वत्स लक्ष्मण, इस मनोहर वसन्तकाल में अपने-अपने झुण्ड के साथ मिलकर परस्पर सानुराग ये पक्षियों के जोड़े मेरे सामने प्रजनन व्यापार में संलग्न हैं। यह कामदेव मुझे ही अत्यन्त पीड़ित करता है ॥५४॥

क्रीडन्ति सुन्दरतरं विहगा इमेऽपि

स्वाभिः प्रियाभिरधुना स्वरतिप्रियाभिः ।

संस्थाप्य मत्पुरत इत्थमयत्नतोऽमून्

मां स्मारयञ्जनकजां विवशीकरोति ॥५५॥

इस समय ये पक्षी भी अपने में अनुराग करने से अत्यन्त प्रिय अपनी प्रियाओं (मादाओं) के साथ विविध सुन्दर-सुन्दर क्रीड़ाएँ कर रहे हैं। इस प्रकार इन्हें अनायास मेरे सामने उपस्थित कर यह काम मित्र वसन्त मुझे जनकनन्दिनी का स्मरण कराकर व्याकुल कर रहा है ॥५५॥

सोऽयं वसन्त उरुशक्तियुतो यदि स्यात्

तत्राऽपि यत्र वसति प्रिय ! सा प्रिया मे ।

नूनं भवेद्हृदयजेन वशीकृतैवं

पत्न्यो भवन्ति पतिधर्मगतव्रता यत् ॥५६॥

प्रिय, यह वसन्त यदि वहाँ भी जहाँ मेरी प्रिया जनकनन्दिनी

निवास करती है, यदि प्रबल शक्तिशाली हुआ होगा तो वह भी निश्चय ही काम द्वारा व्याकुल की गयी होगी, क्योंकि पत्नियों का, आचरण पतियोंके आचरण के अनुरूप ही होता है ।।५६।।

मन्येऽहमित्थमिह वत्स ! वसन्तकालो
गन्तुं न पारयति तत्र गतिर्न तस्य ।
नो चेत् प्रिया मम हिता जनकस्य पुत्री
प्राणान् विभर्तु कथमत्र च नाशितार्था ? ।।५७।।

प्रिय भाई, इस विषय में मेरा ऐसा ख्याल है कि वसन्तकाल वहाँ नहीं जा सकता, जहाँ जनकनन्दिनी का निवास है। वहाँ उसकी गति नहीं हो सकती, अन्यथा मेरी प्राणप्रिया एवं हितकारिणी जनकनन्दिनी, जिसके अभिलाषों पर आघात हो चुका है, प्राणों का धारण करने में कैसे समर्थ होगी ।।५७।।

यद्वा भवेत् स समयोऽपि सुखप्रदोऽपि
तत्रापि किन्तु जलजाक्षियुगा प्रिया मे ।
किं वा करोत्ववहितैश्च खलैर्निबद्धा
बद्धा तथात्मनियमै रहिता प्रियेण ।।५८।।

अथवा क्या कभी वह सुखदायक समय भी आयेगा, जिसमें कमलनयनी मेरी प्रिया भी स्थित हो, किन्तु वह कमलनयनी मेरी प्रिया तो सदा चौकन्ने खलों द्वारा कैद है। अपनी पातिव्रत आदि नियमों से बँधी एवं प्रियविरहित वह बेचारी क्या करे ? ।।५८।।

वैदेहराजतनया हृदयेन शुद्धा
प्राणप्रिया मम सदैव हृदि स्थिताऽपि ।

शङ्के वसन्तसमयेन निराकृतैवं
संधर्तुमेव निजजीवनमक्षमा स्यात् ।।५९।।

वत्स, जनकनन्दिनी हृदय से शुद्ध है। मेरी प्राणप्रिया विदेह-राजपुत्री सदैव मेरे हृदय में स्थित होती हुई भी वसन्तकाल में इस प्रकार निपीडित होती हुई, मुझे शङ्का है, अपना जीवन धारण करने में शायद समर्थ न हो ।।५९।।

दुष्टैर्हृताऽपि भरताग्रज ! तैर्गृहे स्वे
रुद्धाऽपि तद्वशगताऽपि सतीस्वभावात् ।
शक्या न सा विपरिवर्तयितुं कदापि
केनाऽपि चेति मम सन्मतिरव्ययेह ।।६०।।

प्रिय बन्धु, यद्यपि जानकी दुष्टों द्वारा अपहृत है, उन दुष्टों द्वारा अपने घरमें बन्द की गयी है और उन आततायियों के वशीभूत है फिर भी कोई कदापि अपने नैसर्गिक पातिव्रत्य के कारण उसे अपने पातिव्रत से डिगा नहीं सकता ऐसी मेरी अविचल धारणा है ।।६०।।

तत्प्रेमभाव इह विद्यत आत्मसंस्थो
बाढं तया मयि कृतो हृदयेन जाने ।
तद्वन्ममाऽपि सुविशुद्धतरो मृगाक्ष्यां
योज्जृम्भते सततमत्र स ऐक्यमाप्तः ।।६१।।

जीवन सहचरी ने अपने में सँजोया हुआ जो निश्छल प्रेम मुझ से किया था वह निश्चय इस समय भी ज्यों-का-त्यों होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। उसी प्रकार मेरा भी मृगाक्षी के विषय में जो

विशुद्ध प्रेम निरन्तर बढ़ रहा है यहाँ पर वे दोनों एकता को प्राप्त हो गये हैं ।।६१।।

लावण्यसारपरिपूरितसर्वगात्रां
दीप्तां श्रिया च कमनीयतरां पवित्राम् ।
ध्यायन्नपि प्रियतमामहमत्र शान्ति
नाऽऽप्नोमि पीडयति यत् स वसन्तवायुः ।।६२।।

परम सौन्दर्य से परिपूर्ण सर्वाङ्गवाली अपनी नैसर्गिक कान्ति छटा से सुदीप्त (झलमलाती हुई) अत्यन्त रमणीय और पवित्र प्रियतमा का ध्यान (चिन्तन) करते भी मुझे शान्ति नहीं मिल रही है, क्योंकि यह वासन्तिक मन्द सुगन्ध समीरण मुझे पीड़ित कर रहा है ।।६२।।

जानाम्यहं सुरभिगन्धवहोऽनिशं यो
रम्ये वसन्तसमये सुखप्रदोऽभूत् ।
मच्चिन्तनं त्वविगणय्य हृतां प्रियां स्वां
सन्ध्यायतीति मयि कुप्यति सैष धृष्टः ।।६३।।

यह मन्द, सुगन्ध, शीतल वासन्तिक पवन भी रमणीय वसन्तकाल में सुखदायक मेरा चिन्तन न कर यह अपनी अपहृत प्रिया का चिन्तन करता है यह सोचकर यह ढीट (पवन) मेरे ऊपर कोप करता है, ऐसा मुझे प्रतीत होता है ।।६३।।

मन्ये सदा सुखकरं विहितप्रियं तं
शान्तिप्रदं सुरभिगन्धवहं स्वमित्रम् ।
किन्त्वद्य योऽभवदहो ! विपरीतधर्मा
मां संस्पृशन् दहति पावकवत् सरोषः ।।६४।।

मैं सदा सुखप्रद, सदा प्रियकारी तथा सदा शान्तप्रद सुगन्धित पवन को अपना सुहृद् मानता हूँ। किन्तु, खेद है, आज यह विपरीत धर्मवाला हो गया है। यह सरोष (सक्रोध) मेरा स्पर्श करता हुआ अग्नि के समान मुझे जलता है ॥६४॥

त्वं पश्य भूय इममुन्नतवृक्षसंस्थं
कृष्णाङ्गवायसवरं प्रणदन्तमुच्चैः ।
द्वारस्थ एष दुहितुर्जनकस्य राज्ञ
आसीत् पुरा शकुनसूचक आश्रमेषु ॥६५॥

प्रिय वन्धु, तुम ऊँचे वृक्षपर बैठे हुए और जोर से काँव-काँव कर रहे इस काले सुन्दर कौए को देखो, पहले यह आश्रमों में दरवाजे पर स्थित होकर जनकनन्दिनी के लिए शुभ सूचक हुआ था ॥६५॥

सोऽयं प्रहर्षमभिनर्दति मां समीक्ष्य
संसूचयन्निव शुभं भवतीति तूर्णम् ।
किं वा न सूचयतु यः प्रियया सदैव
संपोषितो बलिभिरात्मकरप्रदत्तैः ॥६६॥

वही यह मेरी ओर देखकर शीघ्र ही शुभ होनेवाला है ऐसा सूचित करता हुआ सा प्रसन्नता के साथ काँव काँव कर रहा है। यह क्यों न मानी शुभ शकुन की सूचना दे, क्योंकि प्रियतमा द्वारा अपने हाथ से प्रदत्त बलियों से सदा इनका संपोषण किया गया था ॥६६॥

अस्यां स्थितौ भवति भद्रमहो ! कथं वा
किं वाऽऽवयोः प्रियहितं त्विति नैव जाने ।

किन्त्वद्य तस्य विहगस्य मुखात्समुत्थं
तत्सूचनं भवति नैव वृथेति जाने ॥६७॥

हम लोगों का, इस परिस्थित में, आज का प्रिय हित मङ्गल होनेवाला है और वह कैसे होगा यह मैं नहीं जानता, किन्तु इस पक्षी के मुँह से निकला हुआ यह शकुन सूचक स्वर व्यर्थ नहीं है, यह मैं जानता हूँ ॥६७॥

एते द्विजा पुनरितोऽपि विलोकय त्वं
क्रीडन्त्यहो ! स्वसमजैः सममात्मतन्त्रम् ।
येषां स्वनेन वनमेव समस्तमेतत्
कोलाहलीकृतमिवाऽप्रतिमं विभाति ॥६८॥

भद्र, जरा इधर सो दृष्टिपात करो ये सब पक्षी अपने-अपने वर्ग के पक्षियों के साथ स्वतन्त्रता पूर्वक खेल रहे हैं। इनके कलरव से यह सारा का सारा वन कोलाहलपूर्ण होकर अनुपम-सा प्रतीत होता है ॥६८॥

वृक्षेषु सुन्दरतरेषु सुपुष्पितेषु
कूजन्त आत्मगिरसुन्मदतामुपेताः ।
आत्मप्रियाः समनुसृत्य वसन्तमूढा-
गूढस्वकामविभवा विहगा रमन्ते ॥६९॥

तने से लेकर चोटी तक खूब फूले हुए इन अत्यन्त कमनीय वृक्षों में चहचहा रहे ये उन्मत्त पक्षी वसन्त ऋतु की मादकता से आत्मविस्मृत से हुए अतएव अपनी कामवासना को तिरोहित करने में अक्षम होकर अपनी प्रियाओं से संगत हो आनन्द ले रहे हैं ॥६९॥

पश्यालिवृन्दमित आसु लतासु वत्स !
श्लिष्टासु वृक्षनिवहेष्वपि सक्तमेवम् ।
लौभ्याच्च तद्गतधिया मकरन्दपाने
मग्नं विभाति कृतगुञ्जनशब्दरम्यम् ॥७०॥

वत्स, इधर देखो, वृक्षों में लिपटी हुई इन लताओं तथा वृक्षों में इस प्रकार आसक्त हुए अलिवृन्द (भ्रमरों के झुण्ड) को देखो लोभवश तद्गत चित्त से पुष्परस के पान में मग्न यह इसके द्वारा किये गये गुञ्जन से मनोहर प्रतीत होता है ॥७०॥

एषोऽभियात्यलिवरो रसभारपुष्टां
जुष्टां प्रियैस्तदितरैस्तिलकस्य बल्लीम् ।
कश्चिद्विटोऽपररतामिव पुंश्चलीं तु
धाष्टर्येन भोक्तुमिह वाञ्छति काममत्तः ॥७१॥

यह श्रेष्ठ (तगड़ा) भ्रमर पुष्परस भार से पुष्ट (अत्यन्त अनुरागवती) उससे भिन्न प्रियों द्वारा सेव्यमान (भोगी जा रही) तिलक लता पर चढ़ाई कर रहा है जैसे कि कोई लम्पट पुरुष अन्य पुरुष पर अनुरागवतो पुंश्चली को काममत्त होकर धृष्टतापूर्वक जबर्दस्ती भोगना चाहता है ॥७१॥

पुष्पैरनेकविधवर्णचयैः समृद्धाः
पम्पातटानि परितः स्फुरदुज्ज्वलाङ्गाः ।
वृक्षा इमेऽपि सुजना इव तैः शिरस्त्रैः
संछादितोच्चशिरसोऽत्र विभान्ति बाढम् ॥७२॥

पम्पा के तटों के चौगिर्द अनेक रंगों के (लाल, पीले, गुलाबी, सफेद और काले) फूलों से भरे हुए अतएव झिलमिलाते चटकीले आकारवाले ये वृक्ष भी रंग विरंगी पगड़ियों से वेष्टित ऊँचे सिरवाले सज्जनोंकी तरह यहाँ पर खूब शोभित हो रहे हैं ।।७२।।

धन्या इमे कुसुमशालिन उच्चगन्धाः
पम्पातटेषु नलिनीदलशोभितेषु ।
राजन्ति धर्म्यवपुषः सुषमाधनानि
पात्रे निधाय पुरुषा इव दानशौण्डाः ।।७३।।

विविध पुष्पों से सुशोभित एवं अत्यन्त सुगन्धित ये धन्य वृक्ष जैसे अतिदानी धर्मात्मा पुरुष सुपात्र में धन समर्पण कर शोभित होते हैं, वैसे ही कमल दलों से अत्यन्त रमणीय पम्पा के तटों में सुषमा (परम शोभा)रूपी धन अर्पण अर्थात् पुष्प विखेर कर अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं ।।७३।।

चूताः सुगन्धिन इतोऽपि विकीर्य गन्धान्
पम्पावनं परित उन्नतमञ्जरीभिः ।
आकृष्य षट्पदगणान् स्वगतान् रसाँस्ता- ×
नास्वादनार्थमिव पश्य ! नुदन्त्यभीक्ष्णम् ।।७४।।

पम्पा सरोवर के निकटवर्ती वन के चारों ओर खड़े ये सुगन्ध की खान आम्र वृक्ष लम्बी बड़ी-बड़ी बौरों द्वारा यहीं से सुगन्ध विखेर कर भ्रमर वृन्द को आकृष्ट कर अपने वैभव रूप रस के आस्वादनार्थं निरन्तर प्रेरित कर रहे हैं, देखो ।।७४।।

× रसान् — इयं द्वितीया सर्वथाऽनुपपन्ना, कथं नु पपद्येत ।

कालो ह्यसह्यतर एष वसन्तसंज्ञो
यः कामिनां हृदयभित्तिषु रूढ एवम् ।
आत्मप्रभाववशतोऽधिधरं समस्तान्
कुर्वन् प्रियापदनतान् परिबर्धतेऽत्र ॥७५॥

यह वसन्त नामक काल अत्यन्त असह्य है। कामी पुरुषों को हृदय भित्तियों (हृदय के पर्तों) आरूढ़ (प्रविष्ट) जो कामदेव अपने प्रवल प्रभाव से पृथ्वी पर सब जीवों को प्रेयसियों के चरणों में प्रणत करता है वह (कामदेव) इसमें (इस ऋतु में) वृद्धि को प्राप्त होता है ॥७५॥

अथवा

यह वसन्त काल अत्यन्त असह्य है, जो कामी पुरुषों के हृदयों में अपना पूरा सिक्का जमाकर पृथ्वी पर अपने प्रबल प्रभाव के सब जीवों को प्रियाओं के चरणों में प्रणत करता हुआ इस पम्पा के चारों ओर वन में पूर्ण रूप से वृद्धिगत है ॥७५॥

सौन्दर्यसारपरिपूर्णतटानि तस्या
वीक्ष्यैव किन्नरगणाः स्वमनोनुकूलम् ।
क्रीडा विधातुमिह कामवशाः प्रियाभिः
सत्राऽवतीर्य रतिसौख्यममी भजन्ते ॥७६॥

कामदेव के सरों से विद्ध ये किन्नर गण इस पम्पा सरोवर की अत्यन्त रमणीयता से परिपूर्ण तटों को अपने मनोनुकूल देखकर विविध क्रीड़ाएँ करने के लिए यहाँ पर अपनी-अपनी प्रियाओं के साथ उतर कर रतिसुख का सेवन करते हैं ॥७६॥

विद्याधराश्च मदनज्ज्वरसंविमूढा
विद्याधरीभिरिह लक्ष्मण ! तादृशीभिः ।
आकाशमार्गत उपेत्य वनानि चास्याः
संश्रित्य भुक्तिमपि कुर्वत आत्मनीनाम् ॥७७॥

वत्स लक्ष्मण, कामज्वर से अत्यन्त विकल हुए विद्याधर गण भी अपनी ही तरह कामज्वर पीड़ित विद्याधरियों के साथ यहाँ आकाशमार्ग से आकर पम्पा सरोवर के वनों में आत्मानन्द दायक संभोग करते हैं ॥७७॥

एतादृशे सुसमये वनवासिनोऽमी
क्रीडन्ति पथ्य ! पशुपक्षिगणाः सहर्षाः ।
साधं प्रियाभिरितरेतरबद्धभावाद्
भावाच्च कामकलयोद्धृततद्रसानाम् ॥७८॥

इस प्रकार के सुरम्य में ये वनवासी पशु-पक्षी भी बड़े आनन्द के साथ परस्पर प्रेमार्द्र होकर अपनी-अपनी प्रियाओं के साथ अठखेलियाँ कर रहे हैं। वत्स लक्ष्मण, इनके कामकला निष्पन्न तत्-तत् रसों के भावों को देखो ॥७८॥

वैदेहराजतनयाऽपि मम प्रिया सा
साधं भवेद् यदि मयैव वसन्तकाले ।
धन्यो भवेयमहमत्र च कामसौख्यं
भुक्त्वा ह्यनेकविधमद्य तया सहैवम् ॥७९॥

मेरी प्राणप्रिया वह विदेहराजतनया (वैदेही) भी इस सुरम्य वसन्त में यदि मेरे ही साथ होती तो मैं भी आज उसके साथ

इसी प्रकार विविध प्रकार के आनन्द का अनुभव कर धन्य होता ॥७८॥

एवं निगद्य नयनस्रवदश्रुधारो
रामो बभूव धृतमौन इव क्षताक्षः ।
योगीव लक्ष्यगतभाव उरुक्रियोऽपि
सन्ध्याय तां जनकजामिह निष्क्रियोऽभूत् ॥८०॥

ऐसा कह कर श्रीरामचन्द्रजी के नेत्रों से आँसुओं की धारा वह चली और वे ऐसे मौन हो गये, मानो उनकी आँखों में चोट आगयी हो। वड़े-बड़े कार्यं करनेवाले वीर पुरुषों के अग्रणी भी श्रीरामचन्द्रजी जानकी का स्मरण कर जिस योगी का ध्यान परम लक्ष्य में संलग्न हो, उस योगी की तरह निश्चेष्ट हो गये ॥८०॥

तद्ब्रह्मणोऽपि भवति स्थितिरीदृशी चेत्
काऽस्माकमत्र सुकथेति विचारितेऽस्मिन् ।
कृष्णप्रसादघिमिरेकृतखण्डकाव्ये
पूर्वार्द्ध एष विगतो भवतान्मुदे नः ॥८१॥

उन परब्रह्म परमात्मा श्रीरामचन्द्रजी की भी ऐसी अवस्था होती है तो हम लोगों की इस विषय में कौन कथा है ? ऐसे विचार से ओतप्रोत इस कृष्णप्रसाद घिमिरे कृत खण्डकाव्य में समाप्त हुआ यह पूर्वार्द्धं हम लोगों की प्रसन्नता के लिए हो ! ॥८१॥

× मणि: स्त्रियां-ङीति साधु।

उत्तरार्धः

स्मृत्वा शिरोमणिमिमां रमणीजनानां
पत्नीं निशाचरहृतां स्थितवत्यमुष्मिन् ।
स्वे भ्रातरि प्रहितदृष्टिरथाऽस्य दुःखाद्
भ्रान्तेन्द्रियोऽनुजवरोऽपि सुदुःखितोऽभूत् ॥१॥

वनितावर्ग की शिरोमणि रूप, निशाचर द्वारा अपहृत पत्नी का स्मरणकर श्रीरामचन्द्रजी के मौन अवलम्बन करने पर अपने अग्रज पर टकटकी लगाये हुए एवं अग्रज के दुःख से दुःखी अनुज-वर लक्ष्मण को भी महान् क्लेश हुआ ॥१॥

कर्तव्यमूढ उरुदुःखभरार्दितोऽसौ
शान्त्या नियम्य निजदुःखमिहाऽऽत्मनैव ।
स्वं भ्रातरं गुणगणैः प्रथितं जगत्सु
पादौ प्रगृह्य मधुराक्षरमित्थमाह ॥२॥

किंकर्तव्यविमूढ़ महान् दुःखभार से निपीड़ित अनुज लक्ष्मण ने अपने दुःख का शान्ति से स्वयं नियन्त्रणकर अपने महनीयतम गुणगणों से त्रैलोक्य में विख्यात अपने अग्रज श्रीरामचन्द्रजी के चरण थामकर अत्यन्त मधुर वाणी से इस प्रकार निवेदन किया ॥२॥

आर्य ! त्वमत्र बहुधाऽऽर्यजनैः प्रगीतः
शिष्टैस्तथर्षिनिवहैः कृतिभिः स्तुतश्च ।
तन्मोहमेतमधुनैव विसृज्य धैर्यात्
सत्सेविते पथि निधेहि मनः स्वयोगात् ।।३।।

पूज्यवर, आपकी इस लोक में पूज्य ऋषिमुनियों द्वारा एक वार नहीं अनेकों बार प्रशंसा की गयी है। शिष्टशिरोमणि वसिष्ठ, भरद्वाज, अत्रि, अगस्त्य आदि अनेक मुनिवरों ने आपकी स्तुति की है, इसलिए आप धैर्य का अवलम्बनकर इस विकलता का अभी त्यागकर अपने ही दृढ़ अध्यवसाय से धीर वीर सज्जनों द्वारा सेवित मार्ग में दत्तचित्त हों ।।३।।

भ्रात्रा प्रियेण गदितं ललितं निशम्य
हस्तौ प्रगृह्य तदमुष्य गृहीतधैर्यः ।
रामोऽभ्यधात् प्रकृतवृत्तमिदं प्रियाया
अन्वेषणात्मकमुदस्तसमस्तदुःखम् ।।४।।

प्रिय भाई द्वारा कहा गया प्राञ्जल ललित वचन सुनकर प्रकृतिस्थ हो अपने अनुजके दोनों हाथ थामकर श्रीरामजी ने समस्त दुःखों का निवर्तक प्रिया का अन्वेषण रूप यह प्रकृत वृत्त कहा ।।४।।

पश्याद्य लक्ष्मण ! वयं बहुदुःखयोगा—
दत्राऽऽगता जनकजाविरहार्तियुक्ताः ।
अन्वेषणं विदधतो विपिने मृगाक्ष्या
भ्रान्ता मुधा मृगमरीचिकयैव वृत्त्या ।।५।।

भाई लक्ष्मण, देखो, विदेहराजनन्दिनी की वियोग व्यथा से प्रपीड़ित हम लोग अनेक कष्टों को झेलते हुए उसका अन्वेषण करते-करते आज पम्पा सरोवर पर आये हैं। उस मृगाक्षी का अन्वेषण करते हुए हम जंगलों में मृगमरीचिका वृत्ति से व्यर्थ ही भटके। हमारे वन-वन भटकने का कुछ फल नहीं हुआ ॥५॥

दृष्टा न सेन्दुवदना न च दृश्यतेऽसा-
वस्माभिरित्थमिह तन्मयतां श्रयद्भिः।
तद्भ्रात ! आत्मबलबुद्धिगुणैरुपेत—
मुद्योगमत्र बहुधा वयमाचरामः ॥६॥

भ्रात!

इन्द्रमुखी के अन्वेषण में तन और मन से तन्मय होकर प्रयत्न कर रहे हम लोगों को वह चन्द्रवदना न तो दिखायी दी है और न निकट भविष्य में उसके दिखायी देने के आसार ही दृष्टिगोचर हो रहे हैं। भाई, हमें इस विषय में फिर भी अपने विशेष बल और विशेष बुद्धि से भरपूर उद्यम करना चाहिए ॥६॥

सज्जोऽस्म्यहं तु रघुनाथ ! तथैव कर्तुं
सौमित्रिराह विहिताञ्जलिरत्र भूयः।
किन्तु क्षणाद्विहतबुद्धिरिव स्वभावं
विस्मृत्य मोहयसि मां त्वमनन्यभावम् ॥७॥

लक्ष्मण ने हाथ जोड़कर फिर कहा—हे रघुवर, मैं भी इस विषय में वैसा ही करने के लिए कमर कसकर तैयार हूँ, किन्तु पूज्यवर, आप क्षणभर में अपने उदात्त स्वभाव को निर्बुद्धिजन की तरह विस्मृतकर एकमात्र अन्वेषण कार्य में तत्पर मुझे कर्तव्यविमूढ बना देते हैं ॥७॥

युक्तं त्वयाऽभिहितमत्र मदेकभावो
भ्राता प्रियोऽसि मम लक्ष्मण ! सद्गतिस्त्वम् ।
स्वेच्छं यथा चर हितङ्कुरु मत्प्रियां ता-
मन्वेष्टुमद्य नय मामपि यत्र तत्र ॥८॥

भाई लक्ष्मण, तुमने बहुत ठीक कहा। तुम इस संसार में मेरे अनन्य भक्त प्रिय बन्धु हो और परम सहायक हो। अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करो, जिसमें मेरा भला हो वह कार्य करो। मेरी प्रिया जनकनन्दिनी के अन्वेषण के लिए मुझे भी इधर-उधर ले चलो ॥८॥

स्वस्यानुजं पदनतं प्रियमेनमित्थं
प्रेम्णाऽभिधाय रघुवंशमणिः स रामः ।
पम्पाश्रियं समवलोक्य मनोभिरामां
रामां स्मरन्नपहृतां विललाप भूयः ॥९॥

रघुवंशमणि श्रीरामजी चरणों में प्रणत अपने प्रिय अनुज से इस प्रकार सस्नेह कहकर पम्पा सरोवर की अत्यन्त रमणीय शोभा देखकर दुष्ट राक्षस द्वारा अपहृत अपनी प्रियतमा का स्मरण कर फिर विलाप करने लगे ॥९॥

पश्याऽद्य लक्ष्मण ! सरोदि पुरस्थमेवं
स्वं संनिदर्श्य बहुधायतफुल्लपद्मम् ।
मां स्मारयत्यहह ! सन्तिलकोज्ज्वलं तद्
देव्या मुखं सुविशदस्मितभास्वरस्यम् ॥१०॥

प्रिय लक्ष्मण, देखो, सामने स्थित यह सरोवर (पम्पा) भी, जिसमें विविध प्रकार के कमल खूब खिले हुए हैं ऐसे अपने स्वरूप को दर्शाकर हाय ! मुझे सुन्दर तिलक से समुज्ज्वल देवी के विशद स्थिति पूर्ण सहज सुन्दर मुख का स्मरण कराता है ॥१०॥

पम्पा विभाति विशदोज्ज्वलवारिपूर्णा
नीलोत्पलालकयुता सुविशुद्धवर्णा ।
यस्या जलेषु पशुपक्षिभिरात्मरूपं
संदृश्यते सुपुरुषैरिव दर्पणेषु ॥११॥

खूब स्वच्छ जल से परिपूर्ण, नीलकमलरूपी अलकों से सुशोभित, साफ सुथरे वर्णवाली यह पम्पा, जिसके विमल जल में—जैसे सत्पुरुष दर्पण में अपना स्वरूप देखते हैं वैसे ही—पशुपक्षी अपना स्वरूप देखते हैं, खूब झलमला रही है ॥११॥

अम्भोरुहाणि विकचानि विचित्रितानि
स्वच्छान्तरे सरसि चाऽलिभिराश्रितानि ।
बालार्करश्मिततिभिः परिमार्जितानि
स्वप्रातिरूप्यमभिगत्य जलेऽपि भान्ति ॥१२॥

रंग विरंग के कमल विशद (स्वच्छ) जलवाले सरोवर में खूब खिले हुए हैं, उन पर भँवरे मँडरा रहे हैं एवं प्रातःकालीन सूर्यरश्मियों द्वारा उनकी मनोहरता का खूब निखार हुआ है। वे अपने प्रतिविम्ब का लाभ कर जल के अन्दर भी शोभित हो रहे हैं ॥१२॥

सेयं प्रसन्नसलिला जलपक्षिभिस्तैः
कारण्डवैस्त्वदितरैरपि हंससङ्घैः ।

सत्सेविता सुरभिगन्धवहैश्च जुष्टा
पुष्टा विराजतितमां स्थलपक्षिभिश्च ॥१३॥

निर्मल जल से लबालब भरी हुई यह पम्पा बत्तख, कादम्ब एवं मराल समुदाय आदि जल पक्षियों से चौगिर्द सेवित है, सुगन्धित पवन से युक्त विविध स्थल पक्षियों—मयूर, सुग्गे मैना आदि से भी घिरी हुई बहुत ही सुहावनी मालूम पड़ती है ॥१३॥

संदृश्यते पुनरियं मकरन्दपानान्
मत्तैः प्रियालिनिवहैरपि पीडयमाना ।
स्वाम्भोरुहव्रजनिपातितकेसरैस्तैः
संछाद्यमानवपुरात्मजनैरिवाऽत्र ॥१४॥

पुष्परस (शहद) के पान से मदोन्मत्त हुए प्रिय मधुकर समूह से भी यह (पम्पा) पीड़ित की जाती हुई दिखाई देती है। वे आत्मीय की तरह कमल राशि से गिराये केसरों से इसके कलेवर को आच्छन्न कर दे रहे हैं। जैसे पति, पुत्र आदि आत्मीयजन पत्नी, माता आदि के शरीर को रंगविरंगे विविध वस्त्रों से आच्छादित करते हैं वैसे ही प्रिय अलिवर्ग रंगविरंगे कमल-केसरों से इसके कलेवर को आच्छादित कर रहा है।

अथवा

जैसे होली के अवसर पर विजया (भाँग) आदि के पान से मदोन्मत्त हुआ प्रिय (पति अथवा देवर) अपनी पत्नी अथवा भावी (भावज) के शरीर को अबीर और गुलाल से पोत देता

है वैसे ही प्रिय अलिवर्ग कमल राशि से गिराये केसरों से इसके कलेवर को आच्छादित कर रहा है ॥१४॥

सैषा विभाति पुनरत्र विहर्तुकामै—
स्तैश्चक्रवाकमिथुनैश्च मनोभिरामैः ।
व्याप्तान्तरा सुरुचिरावयवा गुणज्ञै
रम्यैश्च पक्षिनिवहैः परितः श्रितैस्तैः ॥१५॥

इस पम्पा में विहार करने की अभिलाषावाले मन मोहक चक्रवाक के जोड़ों से तथा गुणज्ञ (इस पम्पा के अगणित गुणों को जाननेवाले) इसके चौगिर्द फुदक रहे रमणीय अन्यान्य पक्षियों से इसका कलेवर व्याप्त है, अतएव इसके सब अवयव सुन्दर लग रहे हैं जिससे यह और भी अधिक रमणीय प्रतीत होती है ॥१५॥

तद्‌धृष्यमूकगिरिसानुगताननेकान्
भागान् निषेव्य चिरकालमथौष्ण्यतप्ताः ।
एते मृगाः करिगणाश्च समं प्रियाभि—
रागत्य तत्सलिलमत्र पिबन्ति पश्य ! ॥१६॥

ऋष्यमूक पर्वत की चोटियों के अनेक भागों पर चिरकाल तक निवासकर वहाँ की उष्णता से सन्तप्त हुए ये मृग एवं हस्तियूथ अपनी-अपनी प्रियाओं के साथ यहाँ आकर इसका सुशीतल दिव्य जल पी रहे हैं, देखो ॥१६॥

तीव्रं वहन् सुरभिगन्धबहोऽनिलोऽपि
मित्रं वसन्तसमयं समवाप्य भूयः ।

धार्ष्ट्यं करोति बहुधा विकचानि तस्या
अम्भोरुहाणि परिपीड्य गतागतैः स्वैः ।।१७।।

तेज बहता हुआ सुगन्धित पवन वसन्त कालरूपी मित्र को साथी पाकर अपने गमनागमनों से इसके खिले हुए कमलों को निपिडितकर एक बार नहीं अनेकों बार धृष्टता करता है। जैसे कोई मनचला अकुलीन युवक उसी प्रकार के अपने साथी को पाकर किसी नायिका से अनेक बार छेड़खानी करता है, यह ध्वन्यर्थं प्रतीत होता है ।।१७।।

नीलोत्पलैः सकुमुदैः परिशोभिताङ्गीं
पम्पामिमां सुरुचिरामपि पश्यतो मे ।
जाताऽपि तुष्टिरिह मां प्रियया विहीनं
पुष्टिं प्रदातुमधुनाऽभवदक्षमेयम् ।।१८।।

सफेद कमलों के साथ नीले कमलों से खूब परिशोभित कलेवरवाली अतएव अत्यन्त रमणीय इस पम्पा को देख रहे मेरे मन में उत्पन्न हुई भी सन्तुष्टि इस समय प्रिया विहीन मुझे पुष्टि देने में असमर्थ हो गयी है ।।१८।।

वैदेहराजतनया खलु पद्मनेत्रा
पद्मप्रिया च सततं प्रियवादिनी च ।
प्राणप्रिया पुनरसौ मम तां विनाऽद्य
मज्जीवनं भवति शून्यतरं धिगेतत् ।।१९।।

कमलनयना (पद्माक्षी) विदेहराजपुत्री को कमल सदा बहुत प्रिय हैं, वह सदा प्रिय भाषिणी भी है एवं वह मेरी

प्राणों से भी अधिक प्रिया है। उसके अभाव में आज मेरा जीवन अत्यन्त शून्य हो रहा है, इसे धिक्कार है ॥ १९॥

रम्योत्पलं विकचकोशमिदं प्रियायाः
सारूप्यमेति नयनद्वययोरिहेति ।
तद् द्रष्टुमिच्छति मनो मम शान्तवृत्ति
मह्यं च रोचत इदं भरताग्रजाऽत्र ॥२०॥

यहाँ यह खूब खिला हुआ सुन्दर नीलकमल प्रिया के दोनों नेत्रों की तुल्यता को प्राप्त हो रहा है, इसलिए मेरा मन शान्त वृत्ति होकर इसे देखना चाहता है। हे भरताग्रज (भरत है अग्रज जिसका बहुव्रीहि समास) अर्थात् भरतानुज हे लक्ष्मण, यहाँ यह नीलकमल मुझे बहुत भला लग रहा है ॥२०॥

वस्तूनि यानि रमणीयतराणि देव्या
साधं स्थितस्य मम तुष्टिकराणि चासन् ।
जातानि तानि सकलानि तया विनाऽद्य
हन्ताऽप्रियाण्यसुखदान्यहितङ्कराणि ॥२१॥ ×

देवी के साथ स्थित (देवी की अविरहावस्था में) मुझे जो अत्यन्त रमणीय वस्तुएँ तुष्टि प्रदान करती थीं आज उसके विरह में खेद है, वे सब-का-सब अप्रिय, दुःखदायिनी और अहितकर हो गयी ॥२१॥

वामत्वमत्र मदनस्य तथा समृद्धं
त्वं पश्य! यन्मयि निसंघटितं स्वरूपात् ।

इव [illegible]

मां स्मारयन्नपहृतामपि दुर्लभां तां
विक्रीडतीत्थमिह यः प्रिययोर्मनोभ्याम् ॥२२॥

वत्स लक्ष्मण, जो कामदेव इस संसार में प्रिय और प्रिया के दो मनों से इस प्रकार खेल करता है, उस कामदेव की मुझ में वैसी समृद्धि (वृद्धि—बढ़ोत्तरी) को प्राप्त हुई प्रतिकूलता (शत्रुता) को तुम देखो। वह अपने स्वरूप से विच्युत हुए मुझे अपहृत और दुर्लभ उस प्रिया का बार-बार स्मरण कराता है ॥२२॥

वामः स चास्तु मयि काम उदीर्णवेगः
सोढुं समर्थ इह सोऽस्मि न मेऽस्ति खेदः।
किन्त्वस्य मित्रवर एष वसन्तकालो
मां बाधते यदिह तत्स्मरणाद्धि खेदः ॥२३॥

समधिक बेगवान् वह काम मुझ में भले ही अधिक वाम (प्रतिकूल) हो मैं उसका सहन करने में समर्थ हूँ, इसका मुझे खेद नहीं है किन्तु उसका परम मित्र यह वसन्त काल मुझे यहाँ पर जो पीड़ित करता है उसके स्मरण से मुझे खेद होता है ॥२३॥

एषोऽभियाति कुमुदोत्पलगन्धपुष्टो
जुष्टो द्रुमान्तरसुगन्धिसुमैश्च रम्यैः।
देव्या जगज्जनगण स्तुतकर्मणोऽस्या
निःश्वाससाम्यमुपगृह्य वसन्तवायुः ॥२४॥

सफेद कमल और नीलकमलों की सुगन्ध से परिपुष्ट तथा मनोरम अन्यान्य वृक्षों के सुगन्धित पुष्पों से युक्त यह वसन्त काल

का पवन जगत् की जनगणों से संस्तुत कर्मकारिणी इस देवी के निःश्वास-तुल्यता को ग्रहणकर मेरे ऊपर चढ़ाई करता है ॥२४॥

एतेन लक्ष्मण ! पुरःस्थितशैलवर्यो
यो दृश्यते सकलधातुविचित्रिताङ्गः ।
संघट्टमाप्य बहुवारमनेकशस्तान्
रेणून् प्रगृह्य बहुधाऽऽत्मनि रज्यतेऽसौ ॥२५॥

प्रिय लक्ष्मण, सामने खड़ा यह श्रेष्ठ पर्वत जो गैरिकादि (गेरू आदि) धातुओं से चित्र-विचित्र (चितअबरा) शरीरवाला दिखायी देता है इससे प्रायः अनेक बार टकराकर उसके विविध रंग के रेणुओं को अपने में समेट कर यह (पवन) रंगीला होता है ॥२५॥

पम्पा सुशोभत इदं स्वत एव फुल्लै-
र्व्याप्तान्तराऽपि गिरिसानुनि वृक्षसङ्घैः ।
तां शोभयत्यहह ! पुष्पितसर्वशाखोऽ—
सौ कर्णिकार इह पश्य ! मनोहरश्च ॥२६॥

यह पम्पा पर्वत की चोटी पर फूले हुए वृक्षगणों से चारों ओर व्याप्त होने पर भी स्वतः ही सुशोभित हो रही है। देखो, यह मनोहर कर्णिकार का वृक्ष, जिसकी सब शाखाएँ फूली हुई हैं, इसे और अधिक सुशोभित करता है ॥२६॥

कामं भवन्तु बहवः कुसुमद्रुमास्ते
शैलो विभात्ययमत्र तु किंशुकेन ।

दीप्तां करोति वनराजिमपि स्वपुष्पैः
संपुष्पितैर्य इह सर्वत एव रम्यैः ॥२७॥

पर्वत पर भले ही फूलों के बहुत से पेड़ हों किन्तु यह (पर्वत) किंशुक (ढांक) के पेड़ से ही यहाँ शोभित हो रहा है जो (किंशुक) यहाँ पर खूब फूले हुए (खिले हुए) रमणीय फूलों से वनराजि को चमका देता है ॥२७॥

पम्पावनानि परितो मधुगन्धलुब्धै-
र्व्याप्तान्तरा मधुकरै रसपानमत्तैः ।
ये नात्र वृक्षनिवहाः परिपुष्पिताग्रा
दृश्यन्त एभिरपि सा रमणीयरूपा ॥२८॥

पम्पा-वनों के चौगिर्द जो ये वृक्ष, मधु (पुष्परस) की सुगन्ध से ललचाये हुए एवं मधुपान से मस्त हुए भँवरों से जिनके सब अवयव (शाखाएँ, डालियाँ और टहनियाँ) व्याप्त (भरे) हैं और चोटियाँ खूब खिली हैं, दिखाई दे रहे है इन से भी पम्पा का दृश्य अत्यन्त रमणीय है ॥२८॥

धन्या हि तेऽपि बहुधाऽत्र विदृश्यमाना
रम्योत्पलैः कुवलयैश्च सुशोभमानाः ।
वृक्षाः परस्परसमुन्नतवैभवा ये
राजन्ति दर्शकमनांसि विकृष्य पश्य! ॥२९॥

भाई, देखो, दिन में खिलनेवाले कमलोंके सदृश एवं रात को खिलनेवाले कुमुदों के तुल्य बड़े-बड़े पुष्पों से शोभायमान ये धन्य वृक्ष भी आपस में एक दूसरे में अपना वैभव (अपनी निराली छटा)

अर्पित करते हुए (बढ़ाते हुए) यहाँ पर अक्सर दिखायी देते हैं जो दर्शकों के मन को बरबश आकृष्ट करने में अपना सानी नहीं रखते हैं ॥२९॥

ता बल्लरीर्विकचपुष्पचया लताश्च
संश्लिष्य वृक्षनिवहानिह पुष्पिता हि ।
दृश्यन्त आसु भरताग्रज! मल्लिकास्ता-
स्ता मालतीश्च मधुमासमवाप्य मत्ताः ॥३०॥

बन्धुवर ये मञ्जरियाँ तथा लताएँ, जिनमें पुष्प खूब खिले हैं एवं खिली हुई बेला पुष्पित होकर (ऋतुमती होकर यह ध्वन्यर्थ है) वृक्षों से लिपटकर (आलिङ्गन कर) स्थित हैं। इनमें खिली हुई वेला और चमेली वसन्त ऋतु को प्राप्त कर मदमत्त हैं ॥३०॥

वृक्षास्तथैव वनराजिषु शोभमानाः
श्लिष्टाभिराभिरपि लुब्धतयेक्षमाणाः ।
स्वान्तः स्थितेन मदनेन निहन्यमाना-
स्ता नाऽऽद्रियन्त इह हन्त! विबृद्धमानाः ॥३१॥

इन वन श्रेणियों में वैसे ही (लताओं की तरह ही) शोभायमान, आलिङ्गित लताओं द्वारा लालच भरी दृष्टि से देखे जाते हुए भी एवं चित्त में स्थित मदन द्वारा खूब निपीड़ित होते हुए भी ये वृक्ष वृद्धिगत मानवाली उन (लताओं) का आदर नहीं करते हैं, यह खेद का विषय है ॥३१॥

फुल्ला विभान्ति बहुशोऽत्रकुटाः समृद्धाः
कुन्दाः शुभा बकुलवञ्जुलका मधुकाः ।

खर्जूरबिल्ववरणाश्चिरिबिल्वकाश्च
तेऽङ्कोलचूर्णककुरण्टकपारिभद्राः ॥३२॥

यहाँ खूब फूले हुए कुन्द, सुन्दर मौलसरी, अशोक, महुआ, खजूर, बेल, साल, करञ्ज, अङ्कोल (ढेरा), पोलीकटसरैया और बकायन के वृक्ष, जो पत्र, पल्लव और फलों से लदे हैं, खूब शोभित हो रहे हैं ॥३२॥

राजन्ति तद्वदिह सानुषु फुल्लगात्रा
नीपार्जुनाम्रमुचुकुन्दककोविदाराः ।
उद्दालकाः कुरवकाः सुषमासमृद्धा-
स्ते किंशुका धवशिरीषमुखा द्रुमाश्च ॥३३॥

उसी प्रकार इन शिखरों पर नीचे से ऊपर तक (तने से चोटी तक) विकसित कलेवर वाले कदम्ब, अर्जुन, आम, मुचुकुन्द, कचनार, लसौड़ा, लालकटसरैया, पलाश, धव, शिरीष आदि वृक्ष परम दर्शनीय छटा से लदे हुए शोभा पा रहे हैं ॥३३॥

नागद्रुमाः सतिलका बहुपुष्पितास्ते
हिन्तालकाः सतिनिशा अपि चन्दनाश्च ।
लोध्राश्च सानुषु विभान्ति सनक्तमालाः
फुल्ला विशेषत इतोऽपि च सिन्दुवाराः ॥३४॥

प्रचुर फूलों से लदे हुए नागकेसर, तिलक, हिन्ताल, तिनिश, चन्दन, लोध, करञ्ज और सिन्धुवार भी, जो खूब खिले हुए हैं, इन शिखरों पर विशेषरूप से सुशोभित हैं ॥३४॥

केचिद् द्रुमाः कुसुमिता मधुभिः समेताः
केचित्तु पादपवरा मुकुलैः परीताः ।
केचिच्च सुन्दरतराः स्तवकैरुपेता
दृश्यन्त एषु बहुरूपधरास्तु केचित् ॥३५॥

इनमें फूले हुए कुछ वृक्ष शहद से युक्त, कुछ श्रेष्ठ वृक्ष कलियों से व्याप्त, कुछ मनोहर वृक्ष पुष्पोंके गुच्छे से भरे एवं कुछ रंग-विरंग के पुष्प, पल्लव और पत्तो से परिपूर्ण हैं ॥३५॥

पम्पातटेषु बहुधा रुचिरस्वरूपान्
वृक्षाँस्त्वमत्र भरताग्रज ! पश्य फुल्लान् ।
आलिङ्ग्य यान् कुसुमिताग्रशिखा लतास्ताः
स्वान् स्वान् प्रियान् प्रियतमा इव भूषयन्ति ॥३६॥

वत्स लक्ष्मण, तुम यहाँ पम्पा के किनारों पर विविध प्रकार के सुन्दर-सुन्दर आकार धारण किये हुए पुष्पित वृक्षों को देखो, जिन्हें पुष्पित चोटीवाली ये सुन्दर-सुन्दर लताएँ अपने-अपने प्रियतमों को प्रियतमा नारियों की तरह आलिङ्गनकर विभूषित कर रही हैं ॥३६॥

गन्धान् वहद्भिरनिलैर्मधुमासमत्तै—
र्विक्षिप्तगात्रनिचयान् कुसुमैः समृद्धान् ।
वृक्षानिमान् निजसमीपभवाँल्लतास्ता
मत्ता वरस्त्रिय इवाऽऽर्यजनान् भजन्ते ॥३७॥

विविध पुष्पों की सुगन्ध बहा रहे वसन्त ऋतु के मतवाले वायु के झोकों से जिनके अङ्ग अङ्ग प्रकम्पित हैं एवं पुष्पों से खूब

समृद्ध तथा अपने समीवर्ती वृक्षों का ये मदोन्मत्त लताएँ वैसे ही सेवन कर रही हैं जैसे ही सेवन कर रही हैं जैसे वर स्त्रियाँ आर्यजनों का सेवन करती हैं ॥३७॥

एषोऽनिलोऽपि भरताग्रज ! पश्य तावद्
भ्रान्त्वा चिराय सुमवीथिषु सानुरागम् ।
ताँस्तान् सुगन्धनिचयान् परिगृह्य तेषा—
मास्वादलुब्ध इव वाति सरस्तटेषु ॥३८॥

वत्स लक्ष्मण ! देखो, यह वायु भी पुष्प राजि में चिरकाल तक सप्रेम भ्रमणकर उनकी उन-उन विविध प्रकारकी सुगन्ध को लेकर उनके आस्वादन के लिए ललचाया हुआ सा पम्पा सरोवर पर घूम रहा है ॥३८॥

तस्यैव शिष्यसदृशा मकरन्दलुब्धा
एते मिलिन्दनिवहा मधुरं स्वनन्तः ।
इष्टं प्रियं हितमिदं तु सुगन्धि चेति
लीयन्त एव कुसुमेष्विव सद्रसेषु ॥३९॥

उसी के शिष्यगण पुष्प रस (शहद) के लोभी ये भ्रमरवृन्द ऐसे सुमधुर शब्द (कलगुञ्जन) करते हुए यह हमें अभीष्ट है, यह हमारा अभीष्ट, प्रिय और हित है एवं यह सुगन्ध युक्त है इस प्रकार पुष्पों में सद् रसों की तरह (जैसे मीठे रसों में लीन होते हैं वैसे ही) लीन हो रहे है ॥३९॥

पम्पासरोवरतटं परितः श्रितेयं
भूमिर्विभाति ... पुष्पदलैर्निचिताङ्गी ।

पुष्पैर्द्रुमान्निपतितैर्बहुवर्णरूपै-
रास्तीर्णभव्यशयनेव सुखाकृता या ॥४०॥

पम्पा सरोवर के तट के चारों ओर यह भूमि जिसमें विविध पशु और पक्षी निवास करते हैं एवं वृक्षों से गिरे हुए रंग विरंग के फूलों द्वारा बिछी भव्य शय्या से युक्त-सी सुखकारिणी की गयी है ॥४०॥

एष्वर्ष्यमूकगिरिसानुषुवु दत्तचित्तं
त्वं पश्य लक्ष्मण ! मनोहरतामुपेतम् ।
तत्प्रस्तरप्रचयमात्मधृतैः प्रफुल्लैः
पुष्पैः समृद्धमिह राजति पीतरक्तम् ॥४१॥

हे लक्ष्मण ! तुम जरा ध्यानपूर्वक यहाँ इन ऋष्यमूक पर्वत के शिखरों पर अपने में धारण किये गये, खूब फूले हुए पुष्पों से मनोहरताको प्राप्त हुए उस प्रस्तरखण्डवृन्द को देखो जो फूलों की बहार से पीला और लाल प्रतीत होता है ॥४१॥

प्राप्ते हिमान्तसमये तरवो वनानि
व्याप्यैव सत्सुषमया बहुवर्णरूपाः ।
आत्मस्थषट्पदनिनादितदिग्दिगन्ताः
संघर्षतः कुसुमिता इव भान्ति चाऽत्र ॥४२॥

वसन्त ऋतु आने पर सब वृक्ष और वन नयनाभिराम परम शोभा से सराबोर होकर ही विविध वर्णवाले एवं अपने ऊपर बैठे हुए भ्रमर वृन्द के गुंजन से दिगन्त को मुखरित करते हुए एवं

आपस में मानो होड़ लगाकर फूले हुए वे यहाँ पर विशेष शोभा पा रहे हैं ।।४२।।

तत्काननं परित उत्तमतामुपेत्य
फुल्ला इमे कुसुमभारनता द्रुमास्तु ।
मां तापयन्ति बहुधा प्रियया विहीनं
हीनं समीक्ष्य च धिया हतशक्तिमित्थम् ।।४३।।

इस वन के चारों ओर खूब भली-भाँति फूले हुए एवं फूलों के भार से झुके हुए ये वृक्ष तो मुझे ही प्रियाविहीन, बुद्धिहीन एवं शक्ति रहित जानकर इस तरह बहुत अधिक सन्तप्त करते हैं ।।४३।।

दृश्यं विदृश्यत इदं पुनरन्यदेकं
यत्पीडयत्यविरतं मम मानसन्तु ।
कारण्डवः खगवरोऽयमहो ! प्रियां स्वां
संगृह्य वारिषु निमज्जति यत्स्मरान्धः ।।४४।।

फिर, यह एक दूसरा दृश्य दिखायी पड़ रहा है, जो मेरे मन को निरन्तर पीड़ा पहुँचाता है। हाय, यह श्रेष्ठ पक्षी कारण्डव (करडुआ) अपनी प्रिया को साथ लेकर कामान्ध हो जल में डुबकी लगाता है ।।४४।।

हंसा इमेऽपि विशदावयवाः प्रियाभिः
क्रीडन्ति चैत्य वरटाभिरितोऽपि पश्य ! ।
तत्क्रीडनेन रुचिरेण विबृद्धकामः
कामोऽपि तापयति तानिह मामिव वत्स ! ।।४५।।

वत्स, इधर भी जरा दृष्टि डालो। ये स्वच्छ सफेद कलेवरवाले हंस भी यहाँ आकर वरटाओ (हंसियों) के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं। इनकी मनोरम क्रीड़ाओं से काम का भी हौसला बढ़ गया है। यह बढ़े हुए हौसलेवाला काम उन्हें और मुझे भी पीड़ित कर रहा है ।।४५।।

मन्दाकिनी भगवती जयतीह नित्यं
सर्वोत्तमेति मुनिभिः सुखसेव्यमाना।
या दृश्यतेऽग्रत इयं प्रवरा नदीषु
पुण्यप्रसन्नसलिलासु विराजमाना ।।४६।।

इस जगत् में भगवती भागीरथी सर्वोत्कृष्ट हैं। सर्वश्रेष्ठ होने के कारण ही मुनिजन नित्य इसका सुख पूर्वक (मा सुखार्थं) सेवन करते हैं। जो पुनीत निर्मल जलवाली सब नदियों में श्रेष्ठ है वह यह भागीरथी सामने दिखायी पड़ती है ।।४६।।

देवीमिमां स्वजननीमिव पूज्यपादां
त्वं पश्य तां प्रणम चाऽत्र जगत्प्रणम्याम् ।
विक्रीडतः सलिलवक्षसि निर्विभेदे
दृष्ट्वाऽप्यहो ! मुदमुपैति जगज्जनान् या ।।४७।।

वत्स, अपनी पूज्या माता के तुल्य पूज्य चरणारविन्दवाली सकल जगत् की नमस्करणीया इस देवी गङ्गा के तुम दर्शन करो और इन्हें प्रणाम करो। जो हर्ष है, भेदभाव विहीन जलरूप वक्षस्थल (गोद) में क्रीड़ा कर रहे (स्नान कर रहे) जागतिक लोगों को देखकर भी परम प्रसन्न होती है ।।४७।।

स्वच्छा सुशीतलजला पशुपक्षिवर्गैः
स्नानार्थिभिर्मुनिजनैर्विनता स्तुता च।
तैश्चक्रवाकनिवहैर्मदनोत्कटैश्च
कारण्डवैरपि सुसेविततीरदेशा ॥४८॥

निर्मल हृदया और सुशीतलजला इस भागीरथी को सब वर्गों के पशुपक्षी एवं लोग स्नानार्थी मुनिजन प्रणाम करते हैं और इसकी स्तुति करते हैं। अत्यधिक काम के आवेगवाले चकवा-चकवो के समूह एवं बहुत से करडुए भी इसकी तीरभूमि में निवास करते हैं ॥४८॥

धन्या हि सा रुचिररूपतया समृद्धा
ख्यातिं गता जगति कल्मषहारिणीति।
श्रुत्वा गुणाँस्तदतुलान् पशुपक्षिसङ्घाः
सार्धं सुरैर्नरवरैर्यदिमां श्रयन्ते ॥४९॥

सम्पूर्ण जगत् में कल्मषहारिणी (पापराशिनाशिनी) के रूप से ख्याति को प्राप्त हुई एवं मनोरमरूपता से खूब समृद्ध भागीरथी धन्य है। उसके अतुलनीय (अनुपम) गुणगणों को सुनकर देव-वृन्दों एवं श्रेष्ठ नरों के साथ पशुओं और पक्षियों के सङ्घ तक इसका आश्रयण करते हैं ॥४९॥

क्रौञ्चैः प्लवैश्च सुतरां परिपूर्णदेहा
नित्यं श्रिता मृगमृगेन्द्रगणैश्च रम्या।
व्याप्तान्तरा विहगवृन्दशतैः स्तुतैवं
स्वच्छतावकैरिव [illegible] परिशोभते या ॥५०॥

कारकुलों एवं जलकौओं द्वारा परिपूर्ण कलेवर, हरिणों एवं सिंहों से सदा आश्रित और रमणीय पक्षियों के सैकड़ों वृन्दों से दायें, बायें एवं मध्य में व्याप्त यह भागीरथी इस प्रकार अपनी स्तुति करनेवाले जनों में संस्तुत जैसी शोभित होती है ।।५०।।

दृष्ट्वा विकूजत इमान् विहगाँस्तदेषां
श्रुत्वा स्वनान् सुमधुराँश्च मनः प्रियाँस्तान् ।
स्मृत्वा प्रियां विरहिताञ्च मया प्रियेण
नाऽहं समर्थ इह धर्तुमसून् स्वशक्त्या ।।५१।।

चहचहा रहे इन पक्षियों को देखकर एवं इन मनभावने सुमधुर कलरवों को सुनकर मुझ प्रियतम से विरहित प्रिया (सीता) का स्मरणकर मैं यहाँ पर अपनी शक्ति से प्राण धारण करने में समर्थ नहीं हूँ ।।५१।।

मां स्मारयत्यविरतं कमनीयरूपां
देवीं प्रियां शशिमुखीं चरितैर्विशुद्धाम् ।
शुद्धाञ्च जन्मभिरपीड्यजनप्रसिद्धां
सिद्धां गृहेषु रमणीमिह वन्यवस्तु ।।५२।।

मुझे यहाँ पर वन की सब वस्तुएँ अनिन्द्य मनोहर रूपवाली आचरणों से अत्यन्त विशुद्ध, जन्मतः शुद्ध, स्तुत्यजनों में ख्यातिप्राप्त एवं घर में रमणी रूप से सिद्ध प्रियतमा देवी (सीता) का निरन्तर स्मरण कराती हैं ।।५२।।

कूलस्थवृक्षविनिपातितसत्सुमेषु
तल्लाद्वलेषु रमणीयतरेषु तस्याः ।

देव्या समं विहरतो मम काचिदन्या
चिन्ता भवेन्न च तदन्यतमा स्पृहा वा ॥५३॥

तटवर्ती वृक्षों द्वारा गिराये गये मनोरम फूलों से भरे हुए अतएव बहुत ही मनोहर लग रहे पम्पा सरोवर के हरी-हरी घास-वाले मैदानों में देवी (जनकनन्दिनी) के साथ विहारकर रहे मुझे कोई दूसरी चिन्ता न होगी एव उससे अन्य कोई अभिला भी न होगी ॥५३॥

दिष्ट्या निशाचरहृता जनकस्य पुत्री
त्वद्भ्रातृपत्न्यपि सरोजसुगन्धगात्री ।
दृश्येत चाऽत्र यदि सोऽहमपीह वत्स !
शान्तो भवेयमतुलश्च जगज्जनेषु ॥५४॥

वत्स लक्ष्मण, राक्षस द्वारा अपहृत, पद्म के तुल्य सुगन्ध शरीरवाली जनकनन्दिनी एवं तुम्हारी भाभी यदि भाग्यवश यहाँ दृष्टिगोचर हो जाय तो सम्प्रति शोकाकुल मैं यहाँ शान्त हो जाऊँगा और जगत् की जनता में अनुपम भाग्यवान् हो जाऊँगा ॥५४।

अस्यां स्थितौ तु भरतप्रिय ! हृष्टचित्तः
स्थैर्यं वसेयमहमत्र तयैव साकम् ।
स्वर्गाय वा सुरसुखाय न च स्वपुण्यै
र्लुब्धो भवेयमसमं वनमाश्रयेयम् ॥५५॥

हे भरततुल्य प्रिय भाई, उस परिस्थिति में अत्यन्त हर्षित चित्त होकर मैं उसी के साथ यहाँ स्थायी रूप से वस जाऊँगा।

न स्वर्ग के लिए अथवा न देवभोग्य सुख के लिए एवं न अपनी नगरी अयोध्या के लिए ही मेरे मन में आकर्षण होगा। मैं ऊन्नड़ खान्नड़ वन में ही आश्रय ले लूँगा ।।५५।।

एवंविधा सुरुचिरावयवाऽद्य पम्पा
मां लोभयत्यहह ! वस्तुमिहैव नित्यम् ।
किन्त्वद्य राक्षसहृतां स्मरतः स्वपत्नीं
चित्तं धुनाति नितरां मम चित्तजन्मा ।।५६।।

अहो इस प्रकार की मनोहर प्रदेशवाली पम्पा आज मुझे नित्य यहीं निवास करने के लिए ललचाती है, किन्तु आज राक्षस द्वारा अपहृत अपनी सहधर्मिणी का स्मरण कर रहे मेरे चित्त को मन-सिज (कामदेव) अत्यन्त कँपा रहा है ।।५६।।

पत्नीभिरात्मरमणीभिरितस्त्वमेतान्
विक्रीडतो मृगवरानधुनाऽपि पश्य ! ।
स्वं भ्रातरन्तु मृगशावकनेत्रयैवं
हीनं तथा समवलोकय चाऽत्र दीनम् ।।५७।।

वत्स, अब तुम जरा इधर अपने को आनन्द प्रदान करनेवाली (अपने साथ केलिक्रीड़ा करनेवाली) पत्नियों के साथ क्रीड़ा कर रहे इन सुन्दर मृगों को देखो एव मृगछौने के नेत्र तुल्य विशालनयना भार्या से विहीन एवं यहाँ पर दीनहीन अवस्था में स्थित अपने भ्राता को (मुझे) भी देखो ।।५७।।

संक्रीडमान इह तत्समजः पशूनां
मामेव हन्त ! परिहस्य निजं स्वभावम् ।

रन्तुं तथैव वनराजिषु शान्तभावं
देव्या समं स्वसमया सरसीकरोति ॥५८॥

यहाँ पर क्रीड़ाकर रहा पशुओं का वह उत्तम संघ, खेद है, अपना स्वभाव मुझे ही दिखाकर वन-श्रेणियों में अपने सदृश विशालनेत्रा देवी के साथ शान्ति पूर्वक वैसे ही रमण करने के लिए सरस करता है (उद्दीप्त स्मर विकारवान् करता है) ॥५८॥

देवीं स्मरामि भरताग्रज ! भव्यगात्रीं
पात्रीं स्वसद्गुणगणस्य च सन्निधात्रीम् ।
दुष्टैर्हृतां परवशां विवशाञ्च कृत्ये
प्राप्यैव यामहमपीह हितं समेमि ॥५९॥

हे भरतानुज, मैं मनोरम देहयष्टिवाली, अपने विविध सद्गुणों की भाजन एवं अपने सद्गुणों को दूसरों में संक्रान्त करनेवाली, दुष्टों द्वारा अपहृत, अपने कृत्य में लाचार देवी का स्मरण करता हूँ। जिसे प्राप्त करके ही मैं भी यहाँ पर कल्याण को प्राप्त होऊँगा ॥५९॥

सा तादृशी प्रियहिता रहिता प्रियेण
प्राणांश्च धारयतु लक्ष्मण ! तत्र केन ।
दुष्टा भवेयुरखिलाः परितस्तदस्या
लुब्धा गुणेष्वसमरूपतयैव मुग्धाः ॥६०॥

वत्स लक्ष्मण, उस प्रकार की प्रिय को हितकारिणी प्रिय विरहित वह वहाँ किसके सहारे प्राणों को धारण करे। उसके चौगिर्द सब के सब दुष्ट ही होंगे। उसके अनुपम सौन्दर्य पर मुग्ध हुए वे उसके असाधारण गुणों में ललचाये होंगे ॥६०॥

वैदेहराजमवनीपतिमात्मनीनं
पृच्छन्तमात्मतनयां सनयां जनेषु ।
वक्ष्यापि किन्नु भरतप्रिय ! सत्यसन्धं
भूत्वाऽपि तत्सदृशसत्यरतो हतोऽहम् ॥६१॥

भरतवत् प्रिय भाई लक्ष्मण, अपने हितैषी महाराज विदेहराज जब जनता के मध्य मुझसे गुणवती अपनी पुत्री के विषय में पूछेंगे तो मैं उन सत्यव्रती महाराज से उन्हीं के तुल्य सत्यव्रती होता भी क्या कहूँगा ? क्या झूठ कहूँगा ? हाय ! मैं बेमौत मारा गया ॥६१॥

प्रव्राजितं वनमथात्मगतिं पतिश्च
वीक्ष्याऽपि मां हितमिति स्वहितं विभाव्य ।
याऽन्वागमद्विपिनमेव विसृज्य सर्वं
शर्वं यथा हिमगिरेस्तनया नयेद्धा ॥६२॥

राज्य से निर्वासित मुझे अपना परम आश्रय, परमाधार एवं हितैषी जानकर और अपना हितकारी समझकर जिसने अपने सब सगे सम्बन्धियों का परित्यागकर वन में मेरा वैसे ही अनुगमन किया जैसे परम गुणवती पार्वतीजी ने शिवजी का अनुगमन किया था ॥६२॥

एतर्ह्यसाम्प्रतमिदं प्रियया विहीनं
मज्जीवनं तदिह धारयितुं न शक्तः ।
धर्म्यामिमामनुगतोऽहमपीह धर्म्यो
योऽस्मि प्रियैकगतिरत्र च तत्र रक्तः ॥६३॥

इस समय प्रिया विरहित मेरा जीवित रहना अनुचित है। मैं इस समय जीवन धारण करने में असमर्थ हूँ। धर्मशीला प्रिया का अनुगमन करनेवाला धर्मशील मैं भी, जो इस जगत् में प्रिया रूप एकमात्र गतिवाला हूँ और परलोक में उसमें अनुरक्त हूँ ॥६३॥

राज्याच्च्युतं विहतचेतसमात्मनीनै-
मान्यैर्जनैरपि च सद्य उपेक्षितं माम् ।
संप्रस्थितं प्रिय ! वनाय भयङ्कराय
याऽन्वाऽऽजगाम किमिमां बत विस्मरेयम् ? ॥६४॥

प्रिय, जिस समय मैं राज्य से च्युत हुआ था एवं मेरे माननीय हितैषी जनों ने भी मेरी उपेक्षा कर दी थी उस समय मेरे चित्त को बड़ी ठेस लगी थी। भयानक वन को प्रस्थान कर रहे उदास मन मेरा जिसने अनुगमन किया था उसका मैं कैसे विस्मरण कर दूँ ॥६४॥

अम्भोरुहप्रतिममाननमाधिहारि
भव्यं स्वतोऽमृतसुगन्धि सुशान्तिकारि ।
यस्याः स्मरामि भरताग्रज ! तामदृष्ट्वा
सैषा मतिर्मम हता विगता धृतिश्च ॥६५॥

वत्स लक्ष्मण, मनोव्यथा का उपशमन करनेवाले, कमल सदृश, निसर्गतः अमृत की सुगन्ध से परिपूर्ण एवं शान्ति प्रदान करनेवाले जिसके भव्य मुख का मैं निरन्तर स्मरण करता हूँ, उसका दर्शन किये बिना मेरी वह कुशाग्र तथा प्रत्युत्पन्न मति विनष्ट हो हो गयी है और धैर्य भी मुझे छोड़कर चला गया है ॥६५॥

श्रोष्यामि लक्ष्मण ! कदाऽहमिह प्रियाया
वाक्यं ससारमथ सस्मितचारुहासम् ।
द्रक्ष्यामि वा वद कदा नु हितां सुनासा-
मुच्चस्तनीं गुणवतीं सुदतीं प्रियां स्वाम् ।।६६।।

प्रियवर लक्ष्मण, जरा कहो तो मैं यहाँ पर प्रिया के मुसकान तथा सुन्दर मन्द हास से अलङ्कृत सारगर्भित वचन कब सुनूँगा एवं सुन्दर दन्तपङ्क्ति, सुन्दर नासिका तथा उन्नत वक्षस्थल से सम्पन्न उस हितकारिणी गुणवती अपनी प्रिया को कब देखूँगा ।।६६।।

धन्या हि सा जनकराजसुता वनेषु
बभ्राम हा ? सुरगृहेष्विव सप्रमोदम् ।
विस्मृत्य दुःखततिमात्मगतं च कष्टं
सोढ्वैवं मां परिचरन्त्यवसत् सुखं या ।।६७।।

हाय ! धन्या उस विदेह राजनन्दिनी (सीता) ने कण्टकाकीर्ण विविध वनों में देव भवनों (देवोद्यानों) के तुल्य सानन्द भ्रमण किया था । राजसुख तथा स्वजनों के वियोग से उत्पन्न विविध दुःखों को भूलकर एवं वनवासजनित अपनी परेशानी को सहते एवं मेरी सेवा करते हुए वन में सुखपूर्वक निवास किया था ।।६७।।

वक्ष्याम्यहं किमु वद स्वपुरीमयोध्यां
सम्प्राप्त एष यदि पृष्ट इह स्वमात्रा ।
सीतावधूः क्व विगतेति तदा मयाऽपि
किं वोत्तरं तदुचितं प्रतिपादनीयम् ? ।।६८।।

जब मैं अपनी नगरी अयोध्या पहुँचूँगा और मेरी माता मुझसे यह पूछेंगी कि वह सीता कहाँ गयी तो उस प्रश्न का मैं क्या उचित उत्तर दूँगा ? ॥६८॥

गन्तुं पुरीमहमशक्त इमां विनाऽद्य
तत्त्वं व्रज प्रिय ! सुखं भरतस्य पार्श्वम् ।
भ्राता स मे प्रियतमो मधुरैर्वचोभि-
र्वाच्यश्च मद्वचनतत्त्वमवेक्ष्य बाढम् ॥६९॥

धन्यस्त्वमेव भरत ! स्वपितुर्निदेशो
येन त्वयाऽत्र परिपालित आत्मकृत्यात् ।
तत्त्वाः प्रजाश्च ससुखं परिपालनीया
आलिङ्ग्य गाढमिति सोऽपि तदाऽभिधेयः ॥७०॥

प्रिय लक्ष्मण, उस प्रिया के बिना मैं अपनी नगरी जाने में असमर्थ हूँ, इसलिए तुम आज सुखपूर्वक भरत के निकट अपनी नगरी को चले जाओ। मेरे उस परमप्रिय भ्राता से मधुर-मधुर वचनों द्वारा मेरे कथन का सार खूब भली-भाँति कहना—भाई भरत, तुम धन्य हो, क्योंकि तुमने अपने पितृचरणों की आज्ञा का अपने कर्त्तव्य से भली-भाँति पालन किया एवं उसका (भाई भरत का) गाढ़ आलिङ्गनकर यह भी कहना कि अपने प्रजाजनों का भी उन्हें खूब सुख पहुँचाते हुए पालन करना ॥६९-७०॥

वाच्या तथाऽस्य जननी मम मातृकल्पा
रामः प्रणौति भवतीमिति च स्मरेत् सा ।

त्वन्मातरञ्च मम सन्नतिमर्पय त्वं
सम्पृच्छ्य वत्स ! तदनामयमव्यलीकम् ॥७१॥
वात्सल्यभावपरिपूर्णहृदं सतीं तां
मन्मातरं सुतहितां विहतां तु दैवात् ।
संसेवमान उचितैः प्रियवस्तुवाक्यैः
शान्तं त्वमत्र वस वत्स ! चिराय तुष्टः ॥७२॥

वत्स लक्ष्मण, भरत की माता, जो मेरी भी मातृतुल्य हैं, से राम आपको प्रणाम करता है, इस तरह कहना जैसे उन्हें स्मरण रहे। अपनी माताजी से भी तुम हार्दिक भाव से उनके सुन्दर स्वास्थ्य के बारे में प्रश्न करते हुए मेरा प्रणाम निवेदन करो। वात्सल्य भाव से परिपूर्ण हृदयवाली उस पुत्र हितैषिणी सती मेरी माता की, जो दुर्दैव द्वारा पीड़ित है, समुचित पदार्थों एवं सुमधुर वचनों द्वारा सेवा करते हुए तुम चिरकाल तक सन्तोष का अनुभव करते हुए सुखपूर्वक जन्मभूमि अयोध्या में रहो ॥७१-७२॥

एवं निगद्य बहुदुःखमरुन्तुदं तद्
दीनं वचः सकरुणञ्च विलप्य भूयः ।
धीरोऽपि राम इह जात उपायशून्यः
शून्यं नभः समवलोक्य बभूव तूष्णीम् ॥७३॥

इस प्रकार प्रचुर दुःख दर्द से भरा मर्मघाती दीन वचन कह कर एवं फिर सकरुण विलापकर रामचन्द्रजी यद्यपि धीरजधारी थे तथापि इस विपत्ति के सन्दर्भ में निरुपाय हो गये। उन्होंने शून्य आकाश की ओर दृष्टि डालकर चुप्पी साध ली ॥७३॥

गुर्वाधियुक्तमहितं वचनं तदेतद्
विश्रुत्य राक्षसचरित्रजमार्तिहेतुं ।
पूज्याग्रजञ्च विलपन्तमनाथवत्तं
दृष्ट्वाऽस्य दुःखगलितोऽनुज एवमाह ॥७४॥

भगवान् रामचन्द्रजी के अनुज लक्ष्मण ने विपुल मानसी व्यथा से युक्त, राक्षस रावण की करतूत से उत्पन्न, दुःख के कारण एवं अननुरूप पूर्वोक्त वचन सुनकर एवं पूज्य अग्रज को अनाथ के तुल्य विलाप करते देखकर दुःख भार से रूँधे हुए गले से उनसे इस प्रकार कहा—॥७४॥

आर्यो भवान् विजयतां रघुवंशरत्न !
धर्मान् विवर्ध्य भुवि दुष्टमतीन् विनाश्य ।
धर्म्यान् प्रपाल्य सुखदे पथि तान् प्रचाल्य
पैत्र्यं पदं समवलम्ब्य निजान् प्रतोष्य ॥७५॥

हे रघुकुलमणे, पूज्य आप संसार में धर्मों को अभिवृद्धि कर, दुर्बुद्धिजनों का विनाश कर, धार्मिक सत्पुरुषों की रक्षा कर तथा उन्हें सन्मार्ग से लगा कर एवं पितृ परम्परा से प्राप्त राज्य का अवलम्बन कर आत्मीय इष्ट मित्रों को सुखी करते हुए विजयी हों ॥७५॥

आर्येण यद्गदितमत्र न तत्सुचारु
नैतच्च योग्यमभिभाति भवादृशेषु ।
धीरा बुधाः सततदत्तधियः स्वकृत्ये
मुह्यन्ति नैव किमुताऽङ्ग ! वियोगजन्ये ? ॥७६॥

अभी आपने जो कुछ कहा है वह सुचारु नहीं। आपके सदृश महापुरुषों में ऐसा कथन कथमपि शोभा नहीं पाता। धीरजधारी एवं अपने कार्य में निरन्तर दत्तचित्त विद्वान् पुरुष कदापि मोह को प्राप्त नहीं होते। वियोगजन्य दुःख में वे मोह को प्राप्त हों इसमें तो कहना ही क्या है? अर्थात् ऐसे विषय में उन्हें मोह होना कदापि सम्भव नहीं है ॥७६॥

त्यक्त्वाऽग्रज ! स्मरजचित्तविकारमेतं
मुक्त्वा च मोहमपि तत्स्मरणेन जातम् ।
संस्तभ्यशोकमसुमार्य ! तदत्र कृत्ये
मां भ्रातरं पदनतं विनियोजय त्वम् ॥७७॥

पूज्य भाईजी, कामजनित इस व्याकुलता का परित्याग कर उसके स्मरण से उत्पन्न मोह को तिलाञ्जलि देकर एवं शोक को रोक कर आप इस कार्यं में (पू० भाभीजी के अन्वेषण कार्य में) चरणों में प्रणत मेरा, जो आपका अनुगामी भाई है, विनियोग करें ॥७७॥

मन्दा मतिर्भवति नैव कदापि देव !
विद्यावतां धृतिमतां तु भवद्विधानाम् ।
कार्ये विषीदति च नैव दृढायतिं स्वां
संलक्ष्य नोदयति सैव च तत्र तांस्तान् ॥७८॥

देव, आपके सदृश विद्वानों एवं धैर्यशालियों की बुद्धि मलिन कदापि हो ही नहीं सकती। उसे कर्तव्य कार्य में कदापि विषाद नहीं होता। वही अपने दृढ़ भविष्य की ओर दृष्टि कर उन-उन अपने अनुयायियों को उसमें प्रेरित करती है ॥७८॥

द्वारं गदन्ति मुनयस्त्रिविधं यमस्य
तद्दक्षिणस्य नगरस्य यदस्ति कामः ।
क्रोधस्तथा विषयलोभ इमे त्रयोऽपि
त्याज्या बुभूषुभिरतोऽपि मनो निधेहि ॥७९॥

भगवन्, मुनिजन दक्षिण दिशा में स्थित यमराज के नगर के अर्थात् नरक के तीन दरवाजे बतलाते हैं—काम, क्रोध और लोभ। उनमें पहला दरवाजा काम है, दूसरा है-क्रोध और तीसरा है-विषय–लोभ। इसलिए भविष्णु पुरुषों को इन तीनों का परित्याग करना चाहिए। इस मुनिजन कथनपर भी आप गौर करने की कृपा कीजिये ॥७९॥

स्नेहो हि गाढतर एष वियोगजन्मा
स्निग्धान् विनाशयति तत्प्रियतामुपेतान् ।
आर्द्राऽपि वर्तिरिह दह्यत एव देव !
स्नेहेन वर्धितबलाऽपरदर्शिकाऽपि ॥८०॥

वियोग से उत्पन्न हुआ यह अत्यन्त दृढ़ स्नेह ही वियुक्त के स्नेही पुरुषों का विनाश कर देता है। देखिये न, इस संसार में स्नेह से, प्रेम से बलवती एवं लोगों को अपने प्रकाश से घट, पट आदि विविध पदार्थों को दिखलानेवाली बत्ती स्नेह से आर्द्र होकर जलती हुई देखी ही जाती है ॥८०॥

आर्यां प्रतीक्ष्यचरणां गहने वने यो

हत्वा जगाम निजधाम विहाय सैवम् ।

दुष्टो निशाचर उपायविदेव स स्यात्
नूनं गमिष्यति यमस्य गृहं च कष्टात् ॥८१॥

हे देव, जो पूज्यचरणकमला भाभो जी को वियावान जंगल में अपहृतकर आकाश मार्ग से ही अपने नगर में चला गया, वह दुष्ट राक्षस अवश्य उपाय जाननेवाला ही होगा। निश्चय ही वह कष्ट से यमराज के गृह का अतिथि बनाया जा सकेगा ॥८१॥

तज्ज्ञातुमस्य सकलस्थितिवृत्तिजातं
पूर्वं यतावह इमामधिगन्तुमावाम्। [handwritten: ?]
विज्ञाय सर्वमिदमस्य सदत्र युक्तं
कुर्वः प्रभो! तदनु वीर्यबलैः समृद्धम् ॥८२॥

इसलिए उन्हें (भाभी जी को) प्राप्त करने के लिए पहले हमें उसकी सारी परिस्थिति और व्यवहार आदि को जानने के लिए प्रयत्न करना होगा। उन सबको जानबूझ कर इस सन्दर्भ में जो उचित करणीय होगा, बल-पराक्रम से समृद्ध वह करना होगा ॥८२॥

अस्मत्समक्षगत एष सुदृष्टकर्मा
हास्यत्यसून् सुखद! दास्यति वाऽयं! देवीम्।
कार्यद्वये च भवतोऽत्र तदस्य शेषे
कुर्याद् यथेच्छमिह यत्प्रतिभाति तस्मै ॥८३॥

हे सुखदाता पूज्य भाई जी, हमारे सामने आया हुआ वह जघन्य कार्यकारी राक्षण प्राणों से हाथ धोयेगा या देवी जी (भाभी जी) को हमें देगा। इस सन्दर्भ में ये दो ही कार्य हो

सकते हैं। इनके बाद जो उसे रुचे उसे वह स्वेच्छानुसार कर सकता है ॥८३॥

स्वास्थ्यं भजस्व भगवँस्तदिहाऽद्य धैर्या-
दस्मत्प्रियं भवति शीघ्रमयत्नतोऽत्र ।
तत्लक्षणानि शकुनानि तवाऽनुगोऽहं
पश्यामि योऽस्मि च भवत्कृपयेद्धवीर्यः ॥८४॥

इसलिए, भगवन्, सर्वप्रथम आप स्वस्थ हो जाइये। धैर्य से हमारा अभीष्ट बिना प्रयत्न शीघ्र सिद्ध हो सकता है। आपका अनुगामी एवं आपकी सत्कृपा से दीप्त पराक्रमवाला मैं इसके लक्षण शकुनों को देखता हूँ ॥८४॥

उत्साह एव बलवान् सततं क्रियायां
सिद्धिं ददाति च स एव बलं च तासाम् ।
उत्साहयुक्तपुरुषस्य न किञ्चिदत्र
दुष्प्राप्यमेतदपि वेत्ति भवानमुत्र ॥८५॥

निरन्तर बलवान् उत्साह ही किसी कार्य में सिद्धि प्रदान करता है। सभी कार्यों में वही (उत्साह ही) एकमात्र बल है। उत्साह सम्पन्न पुरुष के लिए इस लोक में अथवा परलोक में कोई भी वस्तु दुष्प्राप्य नहीं है, यह भी श्रीमान् को विदित ही है ॥८५॥

एवंविधो गुणगणैः परिशोभमानः
सत्संस्कृतश्च जनसंसदि लब्धमानः ।

कार्पण्यमेति कथमत्र भवान् धृतात्मा
चैतद्विमृश्य विदुनोति ममान्तरात्मा ॥८६॥

विविध प्रकार के गुणगणों से सुशोभित, सत्संस्कार सम्पन्न एवं जनसंसद् में पूर्णरूपेण सम्मानित आप ऐसे मनस्वी कैसे मोह को (विकलता को) प्राप्त हो सकते हैं, यह सोचकर मेरा अन्तरात्मा (अन्तःकरण) आपकी विकलता से दुःखी होता है ॥८६॥

तत्पूज्यपाद ! पदपद्मविनतेन मूर्ध्ना
भ्रात्रा मयाऽप्यनुचरेण निवेद्यमानम् ।
सार्थं वचो हृदि विधृत्य हितं विमृश्य
मोहं विसृज्य समयोचितमादिश त्वम् ॥८७॥

इसलिए, हे पूज्यचरण, अनुचर मुझ अनुज (भाई) द्वारा चरणकमलों में प्रणत मस्तक से निवेदित सारगर्भित वचनों को हृदय में धारण कर, उन्हें हितकर समझकर एवं मोह का परित्याग कर आप समयानुकूल कर्तव्य का मुझे उपदेश दीजिये ॥८७॥

श्रुत्वा तदस्य कथनं हितकृच्च मत्वा
रामो बभूव धृतधैर्य उपात्तवीर्यः ।
कृत्यं स्मरँस्तदनु नष्टसमस्तमोहः
शान्तं जगाम पुरतो गिरिमृष्यमूकम् ॥८८॥

अपने अनुज का कथन सुनकर एवं उसे अपना हितकारी मानकर भगवान् राम में धैर्य तथा विक्रम का संचार हो गया।

फिर तो उन्हें अपने कर्तव्य का स्मरण हो आया एवं उनका सारा मोह जाता रहा। वे शान्त होकर सामने विद्यमान ऋष्यमूक पर्वत को गये ॥८८॥

तद्ब्रह्मणोऽपि भवति स्थितिरीदृशी चेत्
काऽस्माकमत्र सुकथेति विचारितेऽस्मिन् ।
कृष्णप्रसादघिमिरेकृतखण्डकाव्ये
ग्रन्थः समाप्तिमगमल्लघुसोत्तरार्धः ॥८९॥

उस ब्रह्म की भी पत्नी-वियोग में यदि ऐसी स्थिति होती है तो हम लोगों की इस विषय में क्या कथा है अर्थात् हम लोग किस गिनती में हैं। इस प्रकार की विचारधारा से ओत-प्रोत कविवर कृष्णप्रसाद घिमिरे द्वारा विरचित इस खण्ड काव्य में उत्तरार्ध सहित ग्रन्थ समाप्त हुआ ॥८९॥